

श्री चन्द्रप्रभ



श्री परम महारस चाखै

निश्रा :	गणिवर श्री महिमाप्रभ सागर
सौजन्य :	श्रीमती विद्यादेवी देवराजजी मूथा जितेन्द्र, धर्मेन्द्र, योगेश मूथा, जयपुर
संपादन :	सुश्री विजयलक्ष्मी जैन
प्रकाशन :	श्री जितयशा फाउन्डेशन ९ सी, एस्लानेड रो ईस्ट, कलकत्ता-६९
कम्पोजिंग :	राधिका ग्राफिक्स, इन्दौर
मुद्रण :	जयपुर प्रिण्टर्स प्रा. लि., जयपुर
द्वितीय संस्करण :	१९९९
मूल्य :	पच्चीस रुपये

© श्री चन्द्रप्रभ ध्यान निलयम्, संबोधि-धाम, जोधपुर

आशीष

मनुष्य का मन अंधकार से घिरा हुआ गहरा गर्त है। यह शुभ चिह्न है कि अंधकार में प्रकाश की आकांक्षा जगी है, हमारा अन्तर्-मन ज्योतिर्मय होने के लिए तृषातुर हुआ है। प्रकाश है, इसीलिए प्रकाश की आकांक्षा जगती है। अंधकार का बोध जितना जगेगा, प्रकाश की संभावना उतनी ही बढ़ती चली जायेगी। सच तो यह है कि रात जितनी अंधयारी होती है, सुबह उतनी ही प्यारी होती है।

मेरा रंग तुम्हें लगा है, तो यह रंग तुम्हारी चेतना में निखार भी लायेगा। तुम्हारे अन्तर्-मन में जो प्यास जगी है, यह प्यास तो सावन की प्यासी बदली की तरह है, सागर में प्यासी मछली की तरह है, प्रकाश को ढूँढती प्यारी किरण की तरह है। तुम्हारी यह प्यास गले की प्यास नहीं है, यह कंठ से नीचे जगी एक आत्मिक प्यास है। यह सत्य के लिए सत्य हृदय की प्यास है। तुम्हारी प्यास को मेरे प्रणाम हैं। तुम गौण हो, तुम्हारी प्यास ही खास है। सच तो यह है कि तुम्हारी प्यास ही तुम हो। यह प्यास ही तुम्हारी पात्रता है।

‘कहाँ यहाँ देवों का नंदन, मलयाचल का अभिनव चंदन।’

नहीं! ऐसा नहीं है कि कोई देवनंदन या अभिनव चंदन नहीं है। अपनी प्यासी आँखों को भीतर के मलयगिरी की ओर उठाओ, तो तुम्हें मलयाचल के चंदन से भीनी महकती हवाएं खुद-ब-खुद तुम्हारी ओर आती हुई महसूस होंगी। तुम कहते हो ‘कहाँ यहाँ देवों का नंदन?’ तुम ही तो देवनंदन हो, देवपुत्र हो। बगैर देवपुत्र हुए, दिव्यत्व की प्यास नहीं जग सकती। हमारे अन्तर्-लोक में ही मनुष्य का देवलोक है। मनुष्य खुद एक मंदिर है। मनुष्य परमात्मा का मंदिर बने, यह हम सबका लक्ष्य रहना चाहिये। हर चेतन तत्त्व में परमात्मा की जीवंतता और ज्योतिर्मयता है, इसे सदा स्मरण रखना चाहिये। अपने अचेतन लोक में अपना ध्यान धरोगे, तो अचेतन के पार जो चेतन, उसके पार जो अतिचेतन, उसके पार जो सार्वभौम समष्टिगत परा चेतन है उसमें

प्रवेश होने पर, उसका अनुभव होने पर, सारी बातें स्पष्ट हो जायेंगी। भीतर के उपवन की सारसंभाल नहीं हो पा रही है, इसलिए वह उजड़ा हुआ लगता है। वह उजड़ा हुआ है तो भी हमारे ही कारण और हरा-भरा, लहा-लहा रहा है तो भी हमारे ही कारण। सब कुछ हम पर निर्भर है। वन उजड़ा हो तो भी जमीन तो है ही, बीज भी भीतर के कोने में कहीं दबे पड़े हैं। बस वर्षा की प्रतीक्षा है। वर्षा तभी सार्थक हो सकती है, जब बीज जमीन का साहचर्य ले ले। बीज जमीन में चला जाये। बीज जमीन में दबा हो, तो ही बारिश का, बादलों के छाने का कोई अर्थ है अन्यथा जमीन की सतह पर पड़े बीजों को तो बारिश अपने साथ वहा ले जायेगी। वर्षा को परितृप्ति तब होती है, जब वह बीज में छिपी विराटता को प्रकट कर दे। चेतना के तरुवर को हरा-भरा कर दे।

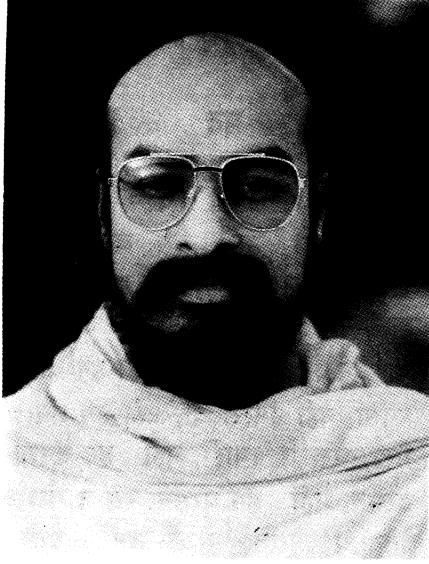
माना तुम मुक्ति चाहते हो। मुक्ति जीवन से नहीं पानी है, मुक्ति तो अपनी वृत्तियों से पानी है। अन्तर्-मन में उठते अंधड़ से पानी है। मुक्ति तो तुम्हारी चेतना का स्वभाव है। अपने द्वारा जन्म-जन्मान्तर से डाले गये पर्दों को अगर ध्यानपूर्वक उतार फेंको, तो मुक्ति की संभावना अस्तित्व में स्वतः अवतरित हो जाए।

हालांकि हमारा अन्तर्-जगत् चिराग की तरह रोशन है पर यह बोध शुभ है कि मुझमें सौन्दर्य नहीं है, मेरा अन्तर्-हृदय कज्रल-सा काला है। तुम्हारा अस्तित्व तो सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का संवाहक है, स्वामी है। जिसे अपने भीतर की असुन्दरता का बोध हुआ है, अस्तित्व का वास्तविक सौन्दर्य उसी के घर-आंगन में उतरता है। माटी की काया तो वनती है, मिटती है पर इस वनने और विगड़ने के बीच जो शाश्वतता का दस्तूर है, ज्योतिर्मयता का बीज वहीं है। मैंने भीतर की वह सत्यता, वह शिवता, वह सुन्दरता पहचानी है, उसके आभामंडल को जाना है, इसीलिए तुम्हें आह्वान है, तुम्हारे लिए मेरे हजारों आशीष हैं।

— श्री चन्द्रप्रभ

अनुक्रम

१. सो परम महारस चाखै	७
२. हम पंछी आकाश के	२६
३. जगत् गुरु मेरा	४७
४. समता का संगीत सुरीला	६७
५. संगत सनेही संत की	८१
६. फूलों पर थिरकती किरणें	६७
७. पिया बिन झूरूं	१११



सो परम महारस चाखै

पद

अवधू नाम हमारस राखै, सो परम महारस चाखै ।।
नहीं हम पुरुषा, नहीं हम नारी, बरन न भांति हमारी ।
जाति न पांति, न साधु न साधक, नहीं हम लघु नहीं भारी ।।
नहीं हम ताते, नहीं हम सीरे, नहीं दीर्घ नहीं छोटा ।
नहीं हम भाई, नहीं हम भगिनी, नहीं हम बाप न बेटा ।।
नहीं हम मनसा, नहीं हम सबदा, नहीं हम तन की धरणी ।
नहीं हम भेख, भेखधर नाही, नहीं हम करता करणी ।।
नहीं हम दरसन, नहीं हम परसन, रस न गंध कछु नाही ।
आनंदघन चेतनमय मूरति, सेवक-जन बलि जाहीं ।।

सो परम महारस चाखै/ट

सो परम महारस चाखै

मेरे प्रिय आत्मन!

मनुष्य चेतना का पुंज है। आत्म-चेतना ही मनुष्य का मूल अस्तित्व है। चेतना के अभाव में कोई तत्त्व जीवित नहीं है, मृत है। चेतना किसी वस्तु में संचारित हो जाए, तो वह वस्तु, वस्तु नहीं रहती, व्यक्ति बन जाती है। उसका अपना व्यक्तित्व हो जाता है। वस्तु का व्यक्तित्व! चेतना के कारण ही सारी आँख-मिचौनी है, नाड़ी में स्पंदन है, आवागमन और दिल की धड़कन है। ज्ञान और अध्यात्म की, जीवन और संसार की सारी गतिविधियां मनुष्य की चेतना के कारण ही हैं। चेतना विराट हो जाए, तो व्यक्ति के लिए परमात्म रूप को उपलब्ध करना हुआ। चेतना का चैतन्य होना अध्यात्म का आत्मसात होना है; चेतना का सुषुप्त होना संसार के आंगन में मृत्यु की दस्तक है। चेतना कुंठित हो जाए, तो संसार का निर्माण होता है।

चेतना निर्जीव से सजीव हुई, देह से विदेह हुई, तो यह उसका भूमारूप है। सच तो यह है कि आज नहीं तो कल हर चेतना, हर व्यक्ति, अस्तित्व के प्रत्येक अंश को परमात्मा होना ही है। जो बीज

सो परम महारस चाखै/६

आज बीज है उसे कभी न कभी, कोई न कोई संयोग तो ऐसा बनेगा ही, कोई न कोई निमित्त तो ऐसा उपलब्ध होगा ही कि जमीन में धंसेगा वह बीज फूटेगा और अंकुरित होगा। उसमें से पौधा लहलहाएगा, पत्तियां उगेंगी, कांटे लगेंगे और एक दिन वही बीज कली बनेगा।

फूलों के प्रस्फुटित होने में बगीचे के लिए यह महत्व नहीं होता कि माटी काली है अथवा पीली है। वह माटी अमेरिकन है या भारतीय है। बीज को खिलने के लिए तो केवल माटी चाहिये। बीज तो किसी भी वर्ण की माटी में खिल सकता है। यदि उसके जीवन में विकास की नियति की कोई रेखा ही नहीं है, तो वह माटी उसे उपलब्ध नहीं होगी। यदि किसी बीज को फूल बनना है, तो उसे जमीन में धंसना होगा। बीज अगर सोचे कि वह बनिये की दुकान में पड़ा रहे या किसी की कोमल हथेली पर जम जाए, तो वह बीज कभी भी फूल नहीं बन सकता।

कुछ होने के लिए कुछ खोना पड़ता है और फूल खिलाने के लिए तो संपूर्णतः खोना पड़ता है। और जो खोना पड़ता है, वह तो पहले कदम में ही, पर जो उपलब्ध होगा, वह आहिस्ते-आहिस्ते। बीज को तो पूरा ही भूमिसात होना पड़ता है। ऐसा नहीं कि आधा बचाये, आधा जमीन में जाये। यह तो पूरा समर्पण है। यह तो पूरा तदाकार हो जाना हुआ। या तो इस पार या उस पार, सटोरियों के सट्टे की तरह। उपलब्धि हाथों हाथ हो, ऐसा नहीं है। माली बीज बोता है, पानी सींचता है, अंकुरण होता है, फिर तो भूल ही जाता है कि उसने बीज बोया। उसका काम रोजाना सींचना है, पानी देना है, कीड़े-मकोड़ों से बचाना है। फूल तो बीज से जन्मा चमत्कार है। अनहद की तरह, कुण्डलिनी-जागरण की तरह, बोधि-लाभ की तरह, कैवल्य की तरह। अचानक कलियां लग जाती हैं। फूल खिल आते हैं। सूरज एक-एक पंखुरी खोल डालता है। सारा वातावरण महक उठता है। कांटे पीछे रह जाते हैं, गुलाब हवा में लहलहा उठता है। पर अगर बीज चाहे कि मैं बीज बना रहकर ही वृक्ष बन जाऊँ—यह संभव नहीं है। बीज को टूटना ही होगा। बिना टूटे बीज कभी अपनी ही संभावना को प्रकट नहीं कर सकता, नहीं पहचान सकता। हर बीज को यही अहसास होता है कि मैं कभी महावीर, बुद्ध, राम या कृष्ण नहीं हो सकता। बीज फूटे, उसमें से बरगद प्रकट हो और वह अपने अतीत के बारे में सोचे,

सो परम महारस चाखै/१०

तो वह विश्वास ही नहीं कर पाएगा कि छोटे से बीज से मैं इतना विराट हो गया।

वृक्ष विश्वास करे या न करे; बीज में आस्था जन्मे या न जन्मे लेकिन जितने भी बरगद हुए हैं, सब बीज के परिणाम हैं। महावीर की भी हमारे जैसी ही अस्थियां, वैसी ही काया, वैसा ही शरीर का ताना-बाना, वैसा ही ढांचा था। उन्होंने भी मां की कोख से ही जन्म लिया। बुद्ध, महावीर, राम, कृष्ण, जीसस भी ऐसे ही पैदा हुए। कोई न तो आसमान से टपका, न पाताल से पैदा होकर आया। जीवन के ताने-बाने में कहीं कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल खिलने और न खिलने का है। अन्तर सिर्फ चेतना के संकुचित और विस्तृत होने का है। आत्म-विकास और आत्म-बोध का फर्क है।

सिकुड़ा हुआ पानी मात्रा में कितना भी क्यों न हो, लेकिन वह गड्ढा कहलाता है। बहता हुआ पानी तो विराट होता है। बहता पानी निर्मल है। वह झरना है, नदी है। रुका पानी गड्ढा है। गंदला है। गड्ढे अपनी सीमाओं के पार झाँके, दीवारें लांघें। अलग-अलग पड़े गड्ढे नये पानी का, नये बहाव का योग पाकर बह पड़ें, तो नाला-नहर-नदी बन सकते हैं। सागर हो सकते हैं। एक पेड़ की लकड़ी से दस लाख तीलियाँ पैदा होती होंगी लेकिन दस लाख वृक्षों को जलाने के लिए एक तीली ही पर्याप्त है।

एक तीली में इतनी क्षमता, ऐसी सम्भावना? कंकर-कंकर में शंकर। कंकर में भी शंकर की सम्भावना है। एक अणु में इतनी क्षमता है कि लाख आदमियों की बस्ती राख हो सकती है। पूरा हिरोशिमा होम हो गया, नागासाकी का नाश हो गया; एक अणु बम से। मनुष्य छह फुट का इंसान है पर यह भी एक बीज का ही विस्तार है। अणु का ही विकास। बीज से मनुष्य जन्मा। मनुष्य से और मनुष्य। मनुष्य की काया में, अपने जीवन के दौरान हजारों बीज बनते हैं। हर बीज बरगद की यात्रा कर बैठे, तो सारी धरती को भीड़ से भरने में एक मनुष्य की भूमिका काफी होगी यानी यह संभावना है। जब बीज में बरगद होने की संभावना है, तो मनुष्य में चैतन्य होने की, उसके परम-विकास की संभावना तो होगी ही।

मनुष्य को अपनी चेतना की क्षमता का कोई अनुभव नहीं है,

सो परम महारस चाखै/११

इसलिए वह सोचता है कि मैं कहां महावीर हो सकता हूँ? मेरी काया वज्र की कहां, जो हाथी सूंड से उठाकर नीचे गिराए, तो भी चकनाचूर न होऊँ? मेरे पांवों में वह क्षमता कहां कि यमुना नदी को पार करूं और अंगूठे का स्पर्श पाकर नदिया शांत हो जाए, मेरू पर्वत कांप उठे या तर्जनी पर गिरिराज धारण कर लूँ, ऐसी क्षमता मुझमें कहां?

मगर मेरा मानना है कि धरती पर किसी एक इन्सान के साथ कोई घटना घटी है, तो धरती के हर इन्सान के साथ वह घटना घट सकती है। एक छोटा-सा अंकुश हाथी को नियंत्रित कर पाने में समर्थ है। एक छोटी-सी चींटी हाथी को परास्त कर डालती है। उसको विक्षिप्त बना देती है। चेतना कितनी भी संकुचित क्यों न हो जाए, वह कितने ही लघु आकार में क्यों न समा जाए लेकिन फिर भी उसकी शक्ति असीम होती है। चेतना की ऊर्जा को जगा लो, तो पता चले कि चेतना में कितनी महान शक्तियां हैं। प्राण-शक्ति को जगाकर, उसे ऊर्ध्वमुखी करके ही संत-पुरुष अमृतजीवी होते हैं।

माटी, जिस पर आदमी चलता है, उसका लाखवां कण भी अगर चैतन्य हो जाए, तो वही कण नागासाकी जैसे नगरों को ध्वस्त करने में अकेला काफी सिद्ध होगा। अणु बम या परमाणु बम और कुछ नहीं, माटी के एक कण से ही पैदा की गई शक्ति है, एक ऊर्जा है। मनुष्य जिसका जीवन अणु का विस्तार है अगर उसमें चैतन्य-विस्फोट हो जाए, तो ज्ञान-विज्ञान की अपरिसीम सम्भावनाएं अपने नये-नये द्वार खोल सकती हैं। कुंडलिनी-योग के जो सन्दर्भ मिलते हैं, वे वास्तव में चैतन्य-जागरण और चैतन्य-विस्फोट के लिए हैं। कुंडलिनी यानी प्राण-शक्ति, शक्ति का घटक। कुंडलिनी को जगाने का मतलब प्राण-शक्ति को, चैतन्य-शक्ति को, नाभिकीय-शक्ति को सचेत करना, उसका शरीर के अन्य चैतन्य-केन्द्रों में विस्तार करना। चैतन्य-ध्यान और सम्बोधि-ध्यान की प्रक्रियाएं वास्तव में चेतना के जागरण और अस्तित्व से साक्षात्कार के लिए ही हैं। अपनी सामर्थ्य और शांति को बढ़ाने के लिए हैं।

हम सोचें कि जीवन का अतीत क्या था, तो पता चलेगा कि जीवन महज एक सचेतन अणु का ही विस्तार है। हमारा शरीर जो अभी छः फुट का नजर आता है, वह प्रारंभ में दो फुट का ही था।

सो परम महारस चाखै/१२

जब मां की कोख से जन्म लिया, तो हम मात्र एक फुट थे। उससे पहले नौ इंच के थे और उससे भी गहरे जाएं तो हम पाएंगे कि हम एक बूंद थे, एक अणु थे। यह शरीर अणु का ही फैलाव है। पर अणु से पहले हम क्या थे? अणु से पहले हम वह चेतना थे, जिसके संस्पर्श से अणु इतना विराट बना। चेतना से ही अणु को करंट मिलता है। यह बूंद इतने बड़े आकार को लेकर आगे बढ़ी। इस छः फुट के शरीर का सार एक अणु, एक बूंद है।

यही बात मैं कहना चाहता हूँ कि चेतना का कोई भी केन्द्र जाग्रत हो जाए और चेतना का स्वयं में बोध हो, तो व्यक्ति के भीतर परमात्मा का विकास घटित होता है; भीतर में आनंद की उर्मियां प्रकट होती हैं; आनंद के झरने नाद करते बहने लगते हैं, जिसकी न कोई कल्पना की है, न जिसको कभी अतीत में पहचाना है। मैंने अपने भीतर की गंगोत्री में जाना है कि जब भीतर गहन-शांति, आनंद के स्रोत उमड़ते हैं, तो आदमी आठों याम, चौबीसों घंटे, हर पल आनंद से अभिभूत रहता है। उसकी आंखों में झांके, तो उनमें भी खुमारी की रसधार बहती नजर आएगी, शराब-सी महदोशी होगी।

आम आंखें दूसरों को देखती हैं, वे अपने-आपको नहीं देखतीं लेकिन चेतना में जीने वाले की तो हजारों आंखें होती हैं और वह हर आंख से अपने आपको देखता है। दूसरे की आंखों से भी वह अपने आपको देखता है। अपने आप में जीने वाला, अवधूत होने वाला निरंतर आनंद से सराबोर रहता है, दिव्य प्रेम से ओत-प्रोत रहता है। उस पर तो गगन-गर्जना होती है और बादल झिरमिर-झिरमिर बरसते रहते हैं। वह रेगिस्तान में चला जाए, तो मरुस्थल को भी मरुघान बना लेगा। वह रेत के टीलों में से भी आनंद के स्रोत पैदा कर लेगा। नरक को भी स्वर्ग बना लेगा। वह अपने आप में जीता है, अपने में डूबकर जीता है। उसके भीतर तो तारे सदैव झिलमिलाते हैं, चांद हमेशा खिला रहता है, अन्तःकरण सूरज की रोशनी से सराबोर रहता है। जीवन के सत्य और जीवन की संपदा सिवाय अपने को छोड़कर कहीं नहीं है।

रंभाती नदियां
भाग रही हैं
जाने किधर।

सो परम महारस चाखै/१३

भीतर हैं तुम्हारे
सदा-सदा से
मुरली के स्वर।

कृष्ण की बांसुरी के सुरों को सुनने के लिए तुम ठेठ प्रयाग और वृंदावन की ओर जा रहे हो। तुम अपने को सुनना शुरू करो। कृष्ण की बांसुरी के सुर तो बहती हुई नदियों के निनाद में, उनकी कल-कल में हैं।

व्यक्ति की आत्म-चेतना, आत्म-सत्य, उसका अपना स्वामी कहीं और नहीं, स्वयं उसके भीतर है। मुश्किल यह है कि बाह्य विषयों से तादात्म्य के कारण वह चेतना का स्रोत, उसकी ज्योति व्यक्ति को दिखाई नहीं देती। व्यक्ति का तादात्म्य इतना गहरा है कि वह जो चैतन्य नहीं है, उसे चैतन्य मान रहा है और चैतन्य का कोई अर्थ और उपयोग नहीं रहा है। तादात्म्य के कारण शरीर चैतन्य नहीं होते हुए भी ऐसा लगता है कि वह चैतन्य है।

व्यक्ति एक बात समझ ले कि मुक्ति का मार्ग तादात्म्य को तोड़ना है, तो उसने संसार के सारे अध्यात्म-शास्त्रों का सार निचोड़ लिया है। हर एक अध्यात्म-शास्त्र और अध्यात्म-पुरुष का एक ही सूत्र है—तादात्म्य को तोड़ डालो। यह तादात्म्य स्वयं मानव-निर्मित है। हमने ही किसी को पत्नी, किसी को पति, किसी को माता-पिता व पुत्र बनाया। हम मानते हैं कि यह मेरा है पर यथार्थ में वह हमारा है नहीं। सब योगानुयोग है।

मैं किसी के घर मेहमान था। दोपहर में विश्राम कर रहा था कि कुछ बच्चों को आपस में लड़ते देखा। उनकी आवाज सुनकर मैं उनके पास गया और पूछा कि क्यों लड़ रहे हो? एक बच्चे ने कहा, 'हम इसलिए लड़ रहे हैं कि इसने मेरे स्कूटर को अपना स्कूटर कह दिया।' दूसरे बच्चे ने कहा, 'नहीं, इसने मेरे स्कूटर को अपना स्कूटर कह दिया।' मैं चौंका और कहा, 'तुम तो इतने छोटे हो, फिर तुम्हारे स्कूटर?'

बच्चे हंस पड़े और कहा, 'आप भी खूब बने। हम तो उन स्कूटरों की बात कर रहे हैं, जो रास्ते पर चल रहे हैं। हम तो खेल

सो परम महारस चाखै/१४

खेल रहे थे कि जिसकी नजर सड़क पर गुजरने वाले स्कूटर पर सबसे पहले पड़ेगी, वह स्कूटर उसी का। अभी जो स्कूटर निकला, उसे यह कहता है कि मैंने पहले देखा, जबकि मैं कहता हूँ कि मैंने पहले देखा।'

मुझे लगता है कि सारे लोग ही वच्चे हैं। जिस तरह वच्चे कहते हैं कि यह स्कूटर मेरा है, उसी तरह बड़े कहते हैं कि धन-दौलत मेरी, यह मकान मेरा। यह जमीन तो यहीं की यहीं पड़ी रह जाएगी। जिस जमीन को तुमने खरीदा, न जाने अब तक कितने लोगों ने उस पर अधिकार किया और न जाने कितने लोगों ने अपने नाम से उसके पट्टे बनवाए होंगे? जमीन वही है, स्वामी के नाम बदल रहे हैं।

संसार की कोई आधारशिला है, तो तादात्म्य के अलावा और कोई नहीं। अध्यात्म का सार-सूत्र है, तो तादात्म्य को तोड़ने के अलावा और कोई नहीं। सारे धर्मों के रास्ते तादात्म्य को तोड़ने के लिए हैं क्योंकि तादात्म्य रंग, रूप, वर्ण, भाषा, जाति-पांति के साथ है। ये सब मानव जाति के उत्थान नहीं, उलझाव हैं। बस ऐसा समझिए कि कोई मकड़ी अपना जाल स्वयं बुनती है और फिर उसी में उलझ जाती है।

कभी-कभी मन घुटता है तो आदमी की इच्छा होती है कि वह मकड़ी के इस जाले से बाहल निकल आए लेकिन तादात्म्य इतना गहरा होता है कि इच्छा धरी रह जाती है। मकड़ी अपने जाले को छूती है और फिर भाव उठते हैं कि वह जाले को कैसे तोड़े क्योंकि बनाने में उसने अपनी ऊर्जा, समय, चेतना लगाई है। वह उसी जाले में फिर आ जाती है और फिर उसी में फंसी रह जाती है। राग है—यह तृष्णा! वासना!

आदमी भी मकड़ी के से जाले बुनता है। मकड़ी को जाला बुनते हुए देख लो, तो तुममें और उसमें कोई फर्क दिखाई नहीं देगा। मैंने मकड़ी को जाला बुनते हुए भी देखा है और आदमी के संसार को भी देखा है। इसलिए पहचानता हूँ कि दोनों में कोई अन्तर नहीं है। वही बुनना, वही प्रक्रिया। मकड़ी तो अबोध व नासमझ है, इसलिए वह बाहर नहीं निकलती, पर आदमी तो समझ रखता है।

मनुष्य के मकड़जाल बड़े विचित्र होते हैं। तब हम कहते हैं कि यह मेरा बेटा है, यह मेरी पत्नी है, इसलिए कि संसार की भावना है। धर्म की भावना जग जाए, तो तुम धर्म स्थानों में आकर कहोगे— यह

सो परम महारस चाखै/१५

मेरा गच्छ, यह मेरा शास्त्र, ये मेरे गुरु, ये मेरे सिद्धान्त, ये मेरी मान्यताएं—कहीं कोई फर्क नहीं। तादात्म्य दोनों में बना हुआ है। यह मेरी पत्नी, यह मेरा गच्छ—इसमें और उसमें कोई फर्क नहीं। यह मेरा मकान, यह तेरा, दोनों एक ही बात हुई, सम्बोधन बदल गये। पकड़ वही है।

संसार के तादात्म्य को तोड़ना सरल बात है मगर धर्मों, सिद्धान्तों, शास्त्रों व पुस्तकों के प्रति रहने वाली तादात्म्यमूलक प्रवृत्तियों से उबरना कठिन होता है। किसी को समझाओ, तो समझ नहीं आती क्योंकि तादात्म्य तो वही का वही है। जिन खूंटों और रस्सियों से वैल को बांधते हैं, वे बदल जाती हैं। ठाण और स्थान बदल जाता है पर आदमी तो वही का वही है। इसलिए एक ही सूत्र है—तादात्म्य को पहचानो और तादात्म्य के पार लग जाओ।

तादात्म्य से उबरने के बाद पत्नी, पत्नी होते हुए भी पत्नी नहीं रहेगी; मां, मां होते हुए भी मां नहीं रहेगी। जिसके कारण पति, पति है, वह भाव, वह संबंध, वह तादात्म्य टूट जाने पर पति, एक कर्तव्य भर रह जाएगा, इससे आगे कुछ नहीं। भीतर से जो जोड़ने वाला तत्त्व था, वह टूट गया, तादात्म्य ढीला पड़ गया। कीचड़, कीचड़ रहा मगर कीचड़ में रहकर भी कमल अपने आपको निवृत्त कर चुका।

तादात्म्य है तो बाबा आनंदधन का यह पद केवल कवि की रचना भर होगा। किसी गड़रिये द्वारा नींद में बड़बड़ाए कोई बोल होंगे। यह पद तभी अध्यात्म का अमृत पद बनेगा, जब व्यक्ति नाम, रूप, रंग, वर्ण सभी तरह के तादात्म्य तोड़कर अपने आपको निहारने का प्रयास करेगा।

बाबा का पद है—

अवधू नाम हमारा राखै, सो परम-महारस चाखै ।
 नहीं हम पुरुषा, नहीं हम नारी, बरन न भांति हमारी ।
 जाति न पांति, न साधु न साधक, नहीं हम लघु नहीं भारी । ।
 नहीं हम ताते, नहीं हम सीरे, नहीं दीर्घ नहीं छोटा ।
 नहीं हम भाई, नहीं हम भगिनी, नहीं हम बाप न बेटा । ।
 नहीं हम मनसा, नहीं हम सबदा, नहीं हम तन की धरणी ।

सो परम महारस चाखै/१६

नहीं हम भेख, भेखधर नाहीं, नहीं हम करता करणी ।।
नहीं हम दरसन, नहीं हम परसन, रस न गंध कछु नाहीं ।
आनंदघन चेतनमय मूर्ति, सेवक-जन बलि जाहीं ।।

बाबा आनंदघन सारे लोगों से आह्वान करते हैं कि तुम मेरा कोई नाम रखो। गुमनाम का नाम। बाबा ने जान लिया है कि ये सारे नाम, नाम नहीं हैं। तुम मुझे किस रूप अथवा किस तरीके से देखोगे? हर रूप आरोपित है। हर रूप एक अभिनय है। नाम का व्यामोह है, इसलिए आदमी जिंदगी भर एक नामधारी बनकर रह जाता है। नाम के पार जो तत्त्व है, उस तक उसकी कोई पहुंच नहीं होती।

किसी का नाम रख दो गुलाबचंद, वह जिंदगी भर गुलाबचंद बनकर रह जाएगा। गुलाब बनकर महकेगा नहीं, गुलाबचन्द बनकर जिएगा। न जाने कितने लोग एक ही नाम के होंगे। नाम तो सारे स्थापित हैं, आरोपित हैं। आदमी जान ले कि नाम तो आरोपित हैं, तो उसकी आधी समस्याएँ ऐसे ही हल हो जाएं। तब कोई नाम से गाली निकालेगा, तो वह कहेगा कि मेरा यह नाम तो पंडित ने दिया है, मेरा नाम थोड़े ही है। यह तो पुकारू नाम है।

आप ज्ञानचंद हैं और किसी ने पास से गुजरते हुए कह दिया— 'मिलापचंद! तुम बहुत बुरे हो।' तो तुम पर कोई असर नहीं होगा क्योंकि तुम तो ज्ञानचंद हो। गाली तो गाली है, चाहे गुलाबचंद को दो या मिलापचंद को। अगर नाम के साथ तादात्म्य है तो गाली, गाली है, वरना तो वह गाली ही नहीं है। आदमी यह सोच ले कि यह नाम बस व्यवहारवश है, माता-पिता या पंडित ने दिया है, यह तो केवल संबोधन के लिए है, तो बस इतनी समझ ही काफी है। ज्ञानचंद को गाली दो और वह नाराज हो जाए तो कोई बात नहीं, लेकिन उसके भीतर जो तत्त्व बैठा हुआ है, वह नाराज नहीं होना चाहिए।

शिवप्रसाद या अल्लाहबख्श में से किसी एक को गाली दें, तो फर्क एक पर पड़ेगा लेकिन नामों का अर्थ देखें, तो दोनों का एक ही अर्थ है। तादात्म्य के कारण अल्लाहबख्श मुसलमान और शिवप्रसाद हिंदू है। नाम तो सारे आरोपित हैं। आप ही हैं—मुझे आपको याद रखना होगा तो याद रख लूंगा पर नाम के कारण नहीं। नाम की मूर्च्छा

सो परम महारस चाखै/१७

हट जाए, रूप की मूर्च्छा टूट जाए तो कैसा नाम और कैसा रूप? सारा अभिनय है। अस्तित्व तो सारा एक है। मरोगे तो भी यहीं रहोगे। मुक्त हो जाओगे तो भी यहीं।

इस गोरी-काली चमड़ी के भीतर की जो ऊर्जा व चेतना है, वही रूप है, वही रंग है। मैं आप लोगों से प्यार करता हूँ। आपके रूप या रंग से प्यार नहीं करता। आपके सुंदर हृदय से प्यार करता हूँ। प्यार तो भीतर की सुन्दरता से ही किया जा सकता है। बाह्य रंग, बाह्य रूप, जाति-पांति, वर्ण-वर्ग—यह मनुष्य की बुद्धि का छिछलापन है, मूल्यों की गिरावट है। इसीलिए बाबा आनंदघन कहते हैं कि मेरा नाम रखना हो तो वह नाम रखो, जिससे तुम्हें महारस का रसास्वाद मिले, महानंद की अनुभूति हो सके। मेरा नाम आनंदघन है, तो यह संबोधन-मात्र के लिए है। मैं भी जानता हूँ कि यह नाम कोई नाम नहीं है।

पहले आनंदघन का नाम आनंदघन नहीं था। उनका नाम लाभानंद था और उससे पहले लाभरुचि या ऐसा ही कुछ रहा होगा। जब उन्होंने जान लिया कि उनके अन्तर्-जगत् में केवल आनंद ही घनीभूत है, तो उन्होंने सोचा कि लोग उन्हें आनंदघन कहकर पुकारें तो इससे शायद लोगों को आनंद प्राप्त हो।

बाबा कहते हैं—

सो परम महारस चाखै।

वह रसों का रस चखता है। ऐसा कोई पंडित नहीं दिखता जो उस अबूझ को बूझे। उस अनाम का नाम रखे। तुम उसे कहोगे आत्मा पर यह भी एक नाम ही हुआ। उसे अनुभवो, उसके रस में भीगो। उसके फाग में खेलो। उसकी ज्योति में प्रकाशित हो जाओ।

बाहर की चमड़ी और इन आंखों से हटकर मेरा जो रूप है, उसे निहारो लेकिन आदमी की आदत ऐसी पड़ गई है कि जिसका नाम मिलापचंद या शिवप्रसाद रख दिया, वे वही बनकर रह जाते हैं। कोई पंडित किसी व्यक्ति को चार फेरे खिला दे, तो वह पत्नी या पति बनकर ही रह जाता है। मानो इससे जुदा उसका कोई व्यक्तित्व ही नहीं।

सो परम महारस चाखै/१८

मैंने एक गांव में एक व्यक्ति को देखा, जो हुबहू गांधी जैसा था। वह वैसी ही लंगोटी पहनता, वैसा ही अंगोछा रखता, चलता तो साथ में बकरी व हाथ में लाठी रखता। वह चलता भी तो गांधी की तरह। लोगों ने उसे समझाया कि तू गांधी नहीं है; फिर भी वह अपने आपको गांधी मानता। मन में यह विचार घर कर गया कि मैं गांधी हूँ।

किसी ने कहा, इसका गांधी का भाव कैसे उतारें। इसे गांधी कहलाने का पागलपन चढ़ गया है। मैंने कहा, यह बहुरूपिया है। किसी को गोड़से बनाकर खड़ा कर दो, इसका गांधीपन गोल हो जाएगा।

मृत्यु! तुम्हारे तादात्म्य को तोड़ने की आखरी गोली, आखरी दवा है। मृत्यु तुम्हारा कंधा छूने को आ जाए, तो सारा तादात्म्य रफू चक्कर। था भी कि नहीं, पता ही नहीं चलता। किसी पर कीचड़ उछाल रहे थे या किसी के साथ इन्द्रधनुष बना रहे थे, सब भूल ही जाओगे।

तादात्म्य के, मोह के, राग के पार उठकर देखो, अपने मन की चंचलताओं को दरकिनार रखकर देखो, तो पता चलेगा कि तुम क्या हो।

तुम मेरा नाम रखो। मैं तुम्हें अपना परिचय देता हूँ कि मैं कैसा हूँ—

अवधू नाम हमारा राखै, सो परम महारस चाखै।

नहीं हम पुरुषा, नहीं हम नारी, बरन न भांति हमारी।

जाति न पांति, न साधु न साधकं, नहीं हम लघु नहीं भारी

बाबा कहते हैं कि मैं अपने परिचय में स्पष्ट कर दूँ कि न मैं पुरुष हूँ, न मैं स्त्री क्योंकि ये विभेद ही तो सारी समस्याओं के मूल हैं। मनुष्य के मस्तिष्क में यही तो भाव घर किया हुआ है कि वह पुरुष है या स्त्री है। जब तक कोई भाव रहेगा, तब तक तुम सोचते रहोगे कि हम परस्पर जुड़ें या परस्पर स्पर्श न करें।

स्त्री और पुरुष—ये दो भाव हैं, दो मनःस्थितियाँ हैं। ये दो कायागत विभेद हैं। स्त्री, स्त्री होकर भी खुद में पुरुषत्व लिए हुए है

सो परम महारस चाखै/१६

और पुरुष, पुरुष होते हुए भी स्त्रीत्व लिए हुए है। कोई भी स्त्री न तो पूरी तरह से स्त्री है, न कोई भी पुरुष पूरी तरह से पुरुष है। हर कोई अर्ध-नारीश्वर है।

बहुत पहले ही यह विज्ञान मनुष्य की समझ में आ गया था कि शिव के शरीर में पार्वती भी है। पार्वती के शरीर में शिव भी है। आधा शरीर शिव रूप, आधा शरीर पार्वती रूप। इसलिए पुरुष, स्त्री के प्रति आकर्षित होता है या स्त्री, पुरुष के प्रति आकर्षित होती है। एक-दूसरे में रहे विरोधी तत्त्व आकर्षित होते हैं। इसमें कहीं कोई दुविधा या पागलपन नहीं है। यह शरीर का सहज स्वाभाविक गुण-धर्म है।

साधक को देह-भाव से ऊपर उठना होता है। देह-भाव से ऊपर उठने का मतलब ही है कि स्रैण और पुरुषधर्मी प्रकृति से ऊपर उठो। आनंदघन देह-भाव से ऊपर उठे, इसीलिए कहा कि न हम पुरुष हैं, न हम नारी हैं। हम तो स्त्री और पुरुष दोनों के पार हैं। ऐसी स्थिति में ब्रह्मचर्य को साधना नहीं पड़ता, ब्रह्मचर्य तो सहज परिणाम हो जाता है। स्त्री हो या पुरुष, सबके प्रति समान दृष्टि, समान आत्मीयता, समान प्रेम।

कुछ प्राचीन धार्मिक परम्पराएं कहती हैं कि मुक्ति के लिए पुरुष का शरीर अनिवार्य है। स्त्री मुक्त नहीं हो सकती। यह पुरुषत्व की महत्ता बढ़ाने के लिए पुरुषों द्वारा पुरुषों के लिए गाई गई मात्र आत्म-महिमा है। अपने ही मुंह से अपनी प्रशंसा है। मुक्ति न तो स्त्री की होती है, न पुरुष की। मुक्ति आत्मा का अधिकार है। आत्मा मुक्त होती है। काया की तो मृत्यु होती है, मुक्ति तो आत्मा की होगी। काया पुरुष की हो या स्त्री की, माटी की संरचना मात्र है।

देह-भाव से ऊपर उठकर देखो, तो न तो स्त्री से परहेज होगा और न ही पुरुष से गिला पर यह मार्ग विशिष्ट लोगों के लिए है। आम आदमी फिसल सकता है। देह से विदेह की यात्रा काई से सनी है। पांव फिसला कि गये गड्ढे में। देह के गुण, देह के हारमोन्स कभी भी, किसी भी क्षण मनुष्य पर हावी हो सकते हैं। आर्द्रकुमार पूर्वजन्म के दृश्यों को देखने के बावजूद फिसल गया। वैराग्य भी फिसल जाता है। चैतन्य-भाव जब तक अन्तर्-हृदय में प्रतिष्ठित न हो जाये, तब तक

सो परम महारस चाखै/२०

वासनाग्रस्त, कषायग्रस्त, मोहग्रस्त चित्त के लिए खतरा ही खतरा है।

जो देह-भाव से पार लग गया, काया के पार के अस्तित्व को उपलब्ध कर चुका, अन्तर्बोध को, सम्बोधि को उपलब्ध हो चुका, उसके लिए स्त्री-पुरुष का भेद नहीं है। वह स्त्री-पुरुष दोनों के लिए मध्यस्थ है, तटस्थ है। जो देहातीत होकर जीता है, उसके लिए कौन पुरुष, कौन नारी?

शुकदेव और उसके पिता दोनों ब्रह्मज्ञानी कहलाते थे। शुकदेव की उम्र बमुश्किल पच्चीस-तीस वर्ष के लगभग होगी जबकि शुकदेव के पिता वृद्ध थे। शुकदेव और उनके पिता दोनों गांव से बाहर जा रहे थे। तालाब के पास से गुजरते हुए शुकदेव के पिता ने देखा कि उनका बेटा बहुत पीछे छूट गया है। तालाब में गांव की महिलाएं निर्वसन नहा रही हैं। मेरे तो कोई फर्क नहीं पड़ता पर मेरा नवयुवक बेटा इधर से गुजरेगा। स्त्रियों ने शुकदेव के पिता को देखकर अपने-अपने वस्त्रों को बदन पर लपेट लिया। शुकदेव के पिता नजरों को नीचे किए हुए आगे बढ़ गए और तालाब से कुछ दूरी पर एक पेड़ की ओट में खड़े हो गए, अपने बेटे की प्रतीक्षा में। महिलाओं ने फिर अपने वस्त्र किनारे पर रखे और नहाने में मशगूल हो गईं। शुकदेव उधर से गुजरे। जिस मस्ती में चले आ रहे थे, उसी मस्ती में आगे बढ़ गए। शुकदेव अपने पिता से मिले पर पिता के मन में तो एक ही प्रश्न कौंध रहा था कि वृद्ध सन्त आया, तब महिलाओं ने अपने वस्त्र वापस पहन लिए और जब शुकदेव आया तब उन्होंने वस्त्र नहीं पहने। जैसे नहा रही थीं, वैसे ही नहाती रहीं, क्यों ? निर्लज्ज!

वे वापस आए और उन्होंने महिलाओं से प्रश्न किया कि तुमने एक वृद्ध के सामने तो वस्त्र पहन लिए जबकि एक नवयुवक के सामने निर्वस्त्र नहाती रहीं, क्यों? महिलाओं ने कहा, इसलिए कि शुकदेव, शुकदेव है। शुकदेव के लिए इस बात का महत्व ही नहीं है कि तालाब में स्त्रियां नहा रही हैं अथवा पुरुष। ताजुब है कि जो प्रश्न शुकदेव के मन में उठना चाहिए, वह प्रश्न आप वृद्ध के मन में उठ रहा है। शुकदेव निर्लिप्त थे। इस भेद से ऊपर उठ चुके थे कि यह पुरुष है अथवा नारी। वे चैतन्य हो चुके थे, देहातीत हो चुके थे।

बाबा कहते हैं—बरन न भांति हमारी। रंग-वर्ण के भेद तो हमारी

सो परम महारस चाखै/२१

भ्रांति है। काले भी अच्छे हो सकते हैं और गोरे भी बुरे हो सकते हैं। परहेज रखना है तो काले दिल वालों से रखें, काले रंग वालों से नहीं। लोग रंग-रूप देखकर मोहित हो जाते हैं। उनके लिए हृदय का सौन्दर्य तो मानो सौन्दर्य है ही नहीं। पहले शादी-विवाह में लोग यह देखते थे कि लड़के-लड़की में कैसे संस्कार हैं, कैसा कुल है। अब तो गोरा रंग देखा और रीझ उठे। गोरे को क्या चाटो अगर दिल काला हो? रूप का सौन्दर्य तो कुछ दिन लुभाता है। जीवन कुछ दिन का नहीं है। जीवन तो सौ साल जीना है। ऐसा साथी चुनो, जो हृदय से सुन्दर है, जिसका अन्तर्-मन पवित्र है।

जो रंग के चक्कर में गया, सो गया। जो रंग के पार झांकने का सामर्थ्य रखता है, सो सुखी हुआ। हमें रंग पर नहीं गुणवत्ता पर, प्रतिभा पर ध्यान देना चाहिये। गुणी सुहायेगा, रूपी सताएगा।

मैंने देखा, एक लड़की काले आदमी से बड़ी नफरत करती है। उसे काले आदमी के हाथ से पानी पिलाया जाये, तो वह उस पानी को नहीं छुएगी। यह गलत है। अपने में रूप का अभिमान है। ऐसा नहीं होना चाहिये। तुम भी तो काली हो सकती थी। चेहरा भले ही तुम्हें अपना सुन्दर लगे पर तुम्हारे विचार सुन्दर नहीं हैं। अपनी दृष्टि सुन्दर बनाओ, अपने विचार सुन्दर बनाओ। तुम्हारा कायाकल्प हो जाएगा। तुमसे सौन्दर्य के निर्झर झरेंगे। तुम सौन्दर्य की प्रतिमा कहलाओगी, रूप-रंग के साथ अगर अपने विचारों को, दिलोदिमाग को भी सुन्दर बनाओ।

‘जाति न पांति’ जात-पांत का भेद कैसा? मानव-मानव के बीच कैसा फासला? गधे-घोड़ों, कुत्ते-पिल्लों से प्रेम और इन्सान के प्रति नफरत?

अभी कुछ समय पूर्व एक जैनाचार्य एक हरिजन के बाड़े में गए और वहां अपना प्रवचन दिया। साधुवाद! पर सारे हिंदुस्तान में हो-हल्ला मच गया। अफवाह फैल गई कि वे किसी हरिजन के घर आहार लेने गए। समाज के लोग पीछे पड़ गए कि या तो अपना अपराध स्वीकार कर प्रायश्चित्त करो, नहीं तो आपको झोली-डंडा छोड़ना पड़ेगा। जिन्होंने ऐसा कहा, वे महावीर के पुजारी नहीं महावीर-भंजक हैं। वे जैन तो क्या, इंसानियत के धरातल से भी नीचे हैं।

सो परम महारस चाखै/२२

बेचारे आचार्य की हालत खस्ता कर डाली। मैंने कहा—बेचारे! जान-बूझकर अपने-आपको असहाय माना होगा। या तो ऐसी हिम्मत ही नहीं करते और जब कर ही ली, तो माफी किस बात की मांगी? हरिजनों के, अनुसूचित जाति के मुहल्ले में गये, प्रवचन दिया, भोजन-पानी भी ले लिया होगा, अच्छा किया, मानवता के मसीहा बन जाते। लाखों हरिजनों को, आदिवासियों को जैन बना सकते थे पर जैनों को जात-पात का खतरा! कहीं ऐसा हो गया तो हमारे घर, फिर हमारे कहां रहेंगे? फिर हमारी जाति का गर्व कहाँ रहेगा? जैनाचार्य माफी न मांगते, तो इक्कीसवीं सदी के अंबेडकर होते पर नहीं, वे चेतना के हामी नहीं हैं। मात्र सिद्धान्तों के रसिया हैं। सच में, जैनाचार्य ने एक समझदारी का काम किया पर अपने वक्तव्य को गुनाह के रूप में स्वीकार कर उन्होंने सारी समझदारी पर पानी फेर दिया।

उन्होंने महावीर के मूल सिद्धांतों को सही रूप में जाना कि कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र नहीं लेकिन इन सिद्धांतों पर अमल नहीं कर पाए। अगर इस समाज के सिद्धांतों पर चलते, तो महावीर को भी इसी तरह माफी मांगनी पड़ती क्योंकि महावीर के शिष्यों में चोर भी आए, डाकू भी आए और चांडाल भी आए। क्यों भूलते हो कि जिस उत्तराध्ययन सूत्र में हरिकेशबल की इतनी महिमा गाई जाती है, वह हरिकेशबल और कोई नहीं श्मशान में मुर्दों को जलाने वाले चांडाल का बेटा था। रोहिणिया अपने जमाने का मशहूर चोर था, अंगुलीमाल रक्तपिपासु डाकू था, अर्जुन घनघोर हत्यारा था। महावीर के लिए न जाति है, न पाति है। न वर्ण है, न भेद है। महावीर के लिए आत्मा का मूल्य है। हर वर्ण, हर रूप के पार जो तत्त्व है, बाबा आनंदघन कहते हैं—मैं वह हूँ, 'सोह'।

न साधु, न साधक—मैं न तो साधु हूँ, न साधक हूँ। तुम्हें जो कहना अच्छा लगे, कह लो। गृहस्थ कहना अच्छा लगे तो गृहस्थ कह लो। साधु कहो, तुम्हारी मौज, भन्ते कहो, तुम्हारी दृष्टि। अवधूत या अध्यात्मनिष्ठ आदमी तो संसार से ही नहीं बल्कि संन्यास के राग से भी ऊपर उठ जाता है। उसमें न तो संसार का भाव होता है और न संन्यास का। वह न तो साधु कहलाने में रस लेता है, न साधक कहलाने में। वह साधु और संसारी इन दोनों से हटकर कुछ और होता है।

किसी वक्त साधुता का अर्थ स्वतन्त्रता होता था पर अब साधु जीवन भी बन्धन रूप है। जमाना बदल रहा है पर हम अभी भी साधु में बुद्ध का चरित्र, महावीर का चरित्र देखना चाहते हैं। साधु की स्वच्छन्दता पर रोक होनी ठीक है पर स्वतन्त्रता पर अंकुश डालना, गेरुए वस्त्रों, सफेद वस्त्रों या काषाय चीवर से उसे बांधना है। गुरु शिष्य बनाता है। वैराग्य से नहीं, प्रेरणा देकर। शास्त्रों का नाम लेकर अच्छी-अच्छी बातों से फुसला लेता है। शिष्य चाहिये। दो-चार शिष्य साथ हों, तो थोड़ा रुतबा बने। साधुता या साधुवेश दुकान नहीं है। यह जीवन की महान उपलब्धि है, जीवन का महान रूपान्तरण है। माटी में ज्योत जगाना है।

शिष्य भले हों कम, पर शिष्यों में हो दम।

मुझे साधुता से प्रेम है। मैं साधुता का सम्मान करता हूँ पर साधुता के नाम पर शिष्यों का जो व्यापार होता है, बगैर आत्म-जागरूकता या अन्तर-रूपान्तरण के जो वेश भर बदलकर साधु बना दिया जाता है, वह गलत है, साधु बनाए जाएं, खुद साधु बनकर।

साधु तो अपरिग्रही कहलाता है। कभी देखा आपने अपरिग्रह को? साधुता के नाम पर कितना परिग्रह है? सब गादोलिया महाराज हो गये हैं। कहेंगे वाहन यात्रा नहीं करेंगे पर टेलागाड़ी पर चढ़कर बड़े आराम से विहार करेंगे। पशुगाड़ी पर बैठना पाप कहेंगे पर डोली पर खुद बैठेंगे। जैसे पशुगाड़ी को पशु चलाते हैं, वैसे ही डोली को मजदूर अपने कंधे पर रखकर चलते हैं। रात का अंधेरा होने पर लाइट नहीं जलाएंगे पर लालटेन का उपयोग कर लेंगे। सवरे चार बजे के घुप्प अंधकार में चलेंगे। रबर की चप्पल या कपड़े के जूते पहनने से परहेज रखेंगे पर साधु-साध्वियों के लिए नई स्टाइल के बनाये मोजे (चप्पल-जूतों की स्टाइल के) सभी व्यवहार में लेंगे।

कोई यह सब करना चाहे, मुझे कोई ऐतराज नहीं है। मैं तो चाहता भी हूँ कि कुछ युगानुरूप परिवर्तन होना ही चाहिये। मानवता की भलाई के काम में अपनी सक्रियता रखनी ही चाहिये पर इतना ध्यान रखें कि साधुता आत्मा का उत्थान है, यह कोई दुकानदारी नहीं है। बाहर के जीवन और भीतर के जीवन में दुराव नहीं होना चाहिये। सच को स्वीकारना ही चाहिये। सच के अनुरूप जीवन का निर्माण और

सो परम महारस चाखै/२४

व्यवस्थापन होना चाहिये। अपनी अन्तरात्मा की आवाज को महत्व दिया जाना चाहिये।

धर्म कोई भीड़ का मंच नहीं है। यह निजी उपलब्धि है, निजी नैतिकता है, निजी ईमानदारी है। बाबा कहते हैं, 'न साधु न साधक' मनुष्य की अन्तरात्मा साधु बन जाये, बस यही काफी है। गांधी के गुरुओं में एक थे—राजचन्द्र! जीवन भर वे गाते रहे कि ऐसा अपूर्व अवसर कब आएगा, जब मैं भीतर और बाहर दोनों पक्षों से निर्ग्रन्थ बनूँ, बन्धन रहित बनूँ, आत्म-निर्भर और आत्म-स्वतन्त्र बनूँ। वे अन्त तक किसी के शिष्य न बन पाये। सब जगह बाहर के बन्धन छूटे हुए लगे पर भीतर के बन्धन, वासना, कषाय, तृष्णा, मोह तो वैसे ही बरकरार मिले। राजचन्द्र, श्रीमद् राजचन्द्र कहलाये; मुनिराजचन्द्र न बने पर जो उन्हें बनना था, वे लुंगी लपेटकर भी बन गये। न बनना होता, तो चीवर ओढ़कर भी कुछ नहीं बन पाते।

आत्म-मुक्ति के लिए वेश नहीं, जीवन्तता और जीवन-रूपान्तरण ही महत्वपूर्ण है।

'नहीं हम लघु नहीं भारी'। न मैं किसी से हल्का पड़ता हूँ और न ही भारी। मैं तो चेतना का समूह हूँ, प्रकाश का पुंज हूँ। न मैं कम हूँ न ज्यादा। जैसा हूँ, वैसा हूँ। 'नहीं हम ताते, नहीं हम सीरे'। न मैं गर्म हूँ, न ठंडा। 'नहीं दीर्घ, नहीं छोटा'। न किसी से बड़ा हूँ, न छोटा। छोटे-बड़े का भेद तो दुनिया की दृष्टि में है। जन्म के पहले-पीछे के कारण हैं। किसी का आकार बड़ा या छोटा हो सकता है। लम्बाई, चौड़ाई या मोटाई में फर्क हो सकता है पर एक बात तय है कि सभी चेतना के सातत्य हैं। हाँ, गुणों की दृष्टि से कोई बड़ा या छोटा हो सकता है, कम या ज्यादा हो सकता है।

बड़े न होजे गुणन विनु, विरुद बड़ाई पाय।
कहत धतूरे सों कनक, गहनो गढ़यो न जाय।।

गुणों से ही कोई बड़ा होता है। आखिर गुणवान ही बड़ा माना जायेगा। कोई छोटा है पर गुणवान है, तो वह छोटा होकर भी बड़ा है, महान है।

सो परम महारस चाखै/२५

एक अध्यापक ने अपने छात्रों से पूछा कि अक्ल और भैंस दोनों ही तुम्हारे सामने हों, तो तुम दोनों में से किसको लेना पसंद करोगे। सबने कहा—अक्ल; मगर एक छात्र ने कहा—भैंस। अध्यापक ने खीजकर डांटते हुए कहा, मुझे पहले ही पता था, बेवकूफ! तू भैंस ही मांगेगा। अरे, तेरी जगह कोई गधा भी होता, तो वह भी अक्ल ही मांगता।

छात्र ने कहा—माफ करें सर! जिसके पास जिसकी कमी होगी वह वही तो चाहेगा।

बाबा आनंदघन स्वयं चैतन्य-मूर्ति हैं, इसलिए कहते हैं, 'नहीं हम भाई, नहीं हम भगिनी, नहीं हम बाप न बेटा'। कौन भाई-बहिन और कौन बाप-बेटा। भाई-बहिन के चक्र में ही तो भाई-भतीजावाद चला करता है। सास-ननद की हम-जोली जमा करती है। शादी न हुई तब तक बेटा, बेटा है। शादी हो जाये तो बेटा भी बाप है। बाप बनते देर भी कितनी लगती है?

'नहीं हम भाई, नहीं हम भगिनी, नहीं हम बाप न बेटा, ये सब सांयोगिक हैं, नदी नाव के संयोग की तरह। जन्म तो होना ही है, माँ-बाप उस जन्म में मात्र निमित्त बनते हैं। पुत्र-पुत्री तब तक अपने हैं, जब तक पंखेरु के पंख न लगे। अब जो है ही मात्र संयोग भर उसके लिए फिर कैसा तादात्म्य? कैसा राग? कौन दुश्मन, कौन दोस्त? सच तो यह है कि दुश्मन भी दोस्त बन जाया करते हैं और जिन्हें हम दोस्त कहते हैं, उन्हें दुश्मन बनते कितनी देर लगती है। कोई छोटी-सी बात पिन कर गयी और दोस्त दुश्मन बन बैठा। मैंने अपनों को गैर बनते देखा है और गैरों को खून से भी ज्यादा रिश्ता निभाते पाया है। किसी से हमारी मैत्री हो न हो पर एक बात तय है कि किसी से दुश्मनी कदापि नहीं होना चाहिये।

नहीं हम मनसा, नहीं हम सबदा, नहीं हम तन की धरणी।

नहीं हम भेख, भेखधर नहीं, नहीं हम करता करणी।।

हम न तो तन हैं और न ही तन को धारण करने वाले। हम न शब्द हैं, न मन हैं। शब्द और मन शरीर की ही सूक्ष्म संहिताएं हैं। शरीर है तो शब्द है। शरीर है तो मन है। जो स्वयं को शरीर से

सो परम महारस चाखै/२६

अलग देखता है, शब्द और विकल्प से स्वयं को विनिर्मुक्त करके देखता है, चित्त और मन से अलग किसी अस्तित्व को निहारता है, अंतस् के आकाश में मौन और परम-धन्यता का आनन्द लूटता है, वह न मन है, न शब्द है, न शरीर का संवाहक है।

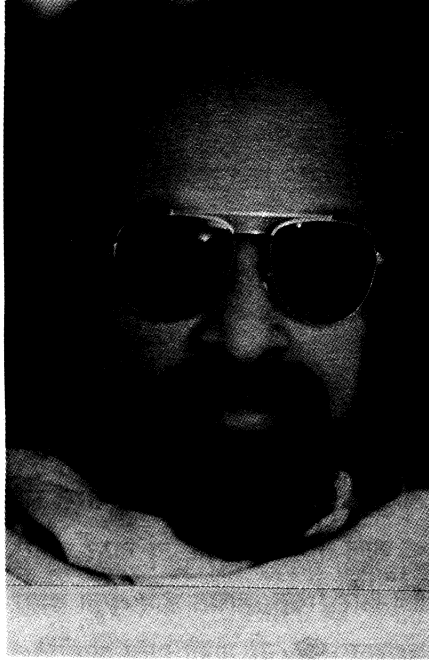
वह वेश या वेशधर नहीं है। वेश तो, मनुष्य द्वारा बनायी गई पहचान भर है। चाहे गेरुआ पहनो या पीला, सफेद हो या लाल-काला। वेश को मात्र वेश तक ही सीमित रखो। वेश पहनकर मात्र वेशधर मत बनो। अंतर-बोध और साक्षी की सतत् जागरूकता, अपनी अंतर की आंखों में सदा ज्योतिर्मय दीप की तरह बनाये रखो। न स्वयं को कर्ता मानो और न ही साधन। कर्ताभाव छूट जाना चाहिये। सारी जवाबदारियां भीतर बैठी सत्ता को सौंप देनी चाहिये। वह जैसा करे या करवाना चाहे, करे-करवाये। हम तो बस आनन्दमयी रहें, चैतन्यमयी रहें, सत्यमयी रहें।

नहीं हम दरसन, नहीं हम परसन, रस न गंध कछु नाहीं।
आनंदघन चेतनमय मूर्ति, सेवक-जन बलि जाहीं।।

न हम दर्शन हैं, न स्पर्श। न रस हैं न गंध हैं। हम जीवन और जगत् के इन सारे पहलुओं से जुड़कर भी इनसे अलग हैं। आत्म-भाव में जीते हैं। हम तो बस वह मूर्ति हैं, जिसे चैतन्य मूर्ति कहा जाना चाहिये। एक ऐसी मूर्ति जो सचेतन है, चलती-फिरती है मगर आखिर माटी का पुतला है। हमारी चेतना ही हमारा सबसे बड़ा पुरस्कार है। भीतर की महा-गुफा में जितनी स्वच्छता, पवित्रता, उज्वलता होगी, अस्तित्व उतना ही निहाल होगा। आठों याम, 'बलिहारी' का भाव होगा यानी एक परम-तृप्ति होगी, एक परम-शान्ति होगी। एक परम आनन्द दशा होगी। वही तो बस चाहिए.....परम महारस!



सो परम महारस चाखै/२७



हम पंछी आकाश के

पद

जीऊ जाने मेरी सफल घरी ।
सुत बनिता धन यौवन मातो, गरभ तणी वेदन बिसरी । ।
अति अचेत कछु चेतत नाहीं, पकरी टेक हारिल लकरी ।
आई अचानक काल तोपची, गहैगो ज्युं नाहर बकरी । ।
सुपन-राज साँच करि राचत, माचत छांह गगन बदरी ।
आनंदघन हीरो जन छांडै, नर मोह्यो माया कंकरी । ।

हम पंछी आकाश के/३०

हम पंछी आकाश के

मेरे प्रिय आत्मन्!

आज हम उस ब्रह्म-कमल की ओर अपनी निगाह उठा रहे हैं, जो मानसरोवर में ही खिला करता है। रेगिस्तान की तपती हुई बालू के बीच कोई महकता फूल खिल जाए, तो यह मरुस्थल का सौभाग्य कहलाएगा। मरुस्थल की सार्थकता मरुस्थल बने रहने में नहीं, मरुघान हो जाने में है।

व्यक्ति की असली साधना यही है कि जिसे लोग तुच्छ माटी समझते हैं, उसी माटी से अमृत-कलश का निर्माण कर ले। जिसे लोग गंदगी कहकर हेय समझते हैं, वही चीज मिट्टी में डालने पर फूल खिला देती है; फूल सुवास देने लगते हैं। जीवन का यह एक सहज विन्यास है कि माटी ही फूल बनती है और गन्दगी ही माटी में परिणत हो सुगन्ध बन जाती है। सुगन्ध कहीं ओर से नहीं आती, सुगन्ध गंदगी का ही रूपान्तरण है।

मैं सबको चेतना के उस शिखर पर ले जाना चाहता हूँ, जहां से बसंत की ठण्डी हवाएं, आनन्द का हिमालयी शीतल समीर हम तक

सो परम महारस चाखै/३१

पहुंच सके। अब तक धरती पर लाखों-करोड़ों संत हुए हैं। आज की तारीख में दस लाख से भी अधिक संत हैं लेकिन जिन्हें हम सही अर्थों में संत कह सकें; जो सही तौर पर साधुता को उपलब्ध हों, ऐसी विभूतियां विरल ही हैं।

साधुता की सुगन्ध वेश से नहीं वरन् उसके अन्तर्-हृदय से आती है। जिसका मन भटक रहा है वह संत होकर भी गृहस्थ है। जो शांत जीवन जीता है, शांत चित्त जीता है, वह संत है। जिससे शांति के निर्रर बहते हैं, वह संत है।

चित्त की शांति और आत्मा का आनंद, बस यही काफी है। ये दो बातें जिसमें घटित हैं, उसमें शेष सारी बातें स्वयमेव घटित हो जाती हैं। जीवन का फूल स्वतः खिलखिलाता रहता है, अपने आप महका-महका रहता है। फूल तो अनगिनत किस्म के होते हैं पर सौरभ और सौन्दर्य, दोनों का संतुलन तो हर किसी फूल में नहीं होता।

बाबा आनंदधन एक अद्भुत फूल हैं—सौन्दर्य भी है और सौरभ भी। स्वर्णकमल! मान-सरोवर में खिला फूल है यह —जीवन के मानसरोवर में। आनंदधन जैसे स्वर्णकमल-ब्रह्मकमल धरती पर कभी-कभार खिलते हैं। युगों में एकाध। मुझे इस फूल से प्यार है, इसलिए कि यह अपनी परिपूर्णता में खिला। मरुस्थल में खिला। भंवरों और पतंगों को जी भर पराग लुटाया। करुणाद्रवित होकर लोगों को चेताया। अध्यात्म को जीकर अध्यात्म-पुरुष कहलाया। ऐसे अमृत-पुरुषों से ही अध्यात्म संजीवित रहा है।

आनंदधन का फूल किसी गमले या बाग में नहीं खिला। यह तो मरघट में खिला फूल है। मरघट की बस्ती में खिला सिद्धत्व का फूल। मरुस्थल में खिला मरुघान। यह तो मुक्त गगन का पंछी है। आकाश भर आनन्द लूटने वाला।

श्मशान में रहकर साधना करने वाले, मरघट में जीकर अपने आपको उपलब्ध होने वाले संतो के इतिहास को देखें, तो तीन नाम हमारे सामने आते हैं—गजसुकुमाल, महावीर और बाबा आनन्दधन। ऐसे योगियों के लिए तो श्मशान ही बस्ती बन जाते हैं। उनके लिए श्मशान, श्मशान नहीं, सिद्धों की बस्ती है, बोधि-विहार है, अर्हत्-विहार है।

हम पंछी आकाश के/३२

श्मशान तो वे स्थान होते हैं, जहां क्षणभंगुरता का इतिहास लिखा जाता है, जहां जीवन के समापन की रेखाएं खींची जाती हैं। राजस्थान की मरुभूमि में आनन्दघन जैसे स्वर्णकमल खिले। एक ऐसा औलिया, जिसने श्मशान को अपनी तपोभूमि बनाया। गुफाओं में जिसने निवास किया। बरगद की छांह में जिसने अपना जीवन बिताया। यह जैन जगत् का पहला अवधूत हुआ, पहला ओघड़। गोरख जैसा सिद्ध योगी, कबीर जैसा फक्कड़, नानक जैसा भक्त, फिर भी अपने आप में निराला-अप्रतिम। बड़े न्यारे-निराले पद गाये हैं बाबा ने। बड़े रसीले, एक आत्मिक कसक भरे।

बाबा आनन्दघन के पदों को रस लेकर पढ़ा जाए तो मेरे देखे, व्यक्ति के भीतर वैराग्य की हिलोरें स्वतः ही उठने लगेंगी। बाबा अपनी आजादी के लिए लड़ने वाले और अपनी आजादी को बढ़ाने वाले संत हैं। उनका पथ तो मुक्त गगन है। स्वतन्त्रता, आत्म-स्वतन्त्रता।

कोई व्यक्ति गुरु के पास अपने बंधनों को बढ़ाने के लिए नहीं वरन् अपनी आजादी को बढ़ाने के लिए जाता है। अपनी आत्म-स्वतन्त्रता को और अधिक उपलब्ध करने के लिए जाता है।

कल ही एक पत्र था। एक सज्जन ने लिखा—वह बन्धनों में है और अपने बन्धनों से मुक्त होना चाहता है। अपनी आजादी को पाने के लिए, अपनी आजादी को बढ़ाने के लिए मुझ तक आना चाहता है। स्वागत है। तुम उड़ लो तो तुम्हारा सौभाग्य! मैं तो उड़ता हुआ वह परिंदा हूँ, जिसके पीछे कोई पदचिह्न नहीं छूटने वाले हैं। मेरे पास कोई अंकुश नहीं है, सिर्फ उड़ान की प्रेरणा है, उड़ने का उत्साह है। बन्धन मुझे पसन्द नहीं। मुक्ति हर ओर से, हर दृष्टि से।

बड़ी अजीब बात है, जब व्यक्ति गृहस्थ होता है, तो उसके ऊपर गृहस्थी की मान-मर्यादाएं होती हैं, कई अंकुश होते हैं। उन्हीं से मुक्त होने के लिए वह सोचता है साधु बन जाए लेकिन देखते नहीं हो, साधु पर भी कितने अंकुश हैं? संतों पर श्रावकों के अंकुश, समाज के अंकुश!

साधु आजाद होता है। वह किसी का गुलाम नहीं होता। गुलामी आखिर गुलामी होती है, चाहे वह समाज की हो या समुदाय की अथवा

सो परम महारस चाखै/३३

किसी व्यक्ति की। अनुशासन के नाम पर बस, शासन चल रहा है। बादशाहत! आचार-विचार दरकिनार हो गये हैं, हाँ-हजुरी रह गई है। बाबा आनन्दघन किसी की हाँ-हजुरी करे, गुलामी स्वीकार करे, यह सम्भव ही नहीं है।

बाबा के जीवन की एक घटना है। वे गुजरात चातुर्मास हेतु ठहरे हुए थे। जब उनका प्रवचन देने का समय हुआ तो लोगों ने कहा, थोड़ी देर के लिए रुक जाएं। जब तक नगर-सेठ नहीं पहुंच जाता, तब तक आप को रुकना पड़ेगा। बाबा मुस्कुराए और पांच-दस मिनट के लिए ठहर गए मगर सेठ नहीं पहुंचा।

बाबा ने प्रवचन शुरू कर दिया। सेठ तक जब यह समाचार पहुंचा, तो वह दौड़ा चला आया। आते ही आग बरसाने लगा—आपने मेरी अनुपस्थिति में प्रवचन कैसे शुरू किया। क्या आपको मालूम नहीं कि मेरी गैरहाजरी में प्रवचन शुरू नहीं होता, यहाँ की परम्परा है। बाबा ने शांत स्वर में कहा—तुम वक्त पर नहीं पहुंचे, तो इसमें मेरा क्या दोष।

सेठ चिल्लाया। पैसे की गर्मी थी। सेठ ने कहा—अगर आपको इस स्थान में रुकना है, तो जब तक मैं न पहुंचूं आप प्रवचन प्रारम्भ नहीं कर सकते। बाबा ने कहा—मैं यहां गुलामी स्वीकार करने नहीं, अपनी आजादी को बढ़ाने आया हूँ। तुम यह चाहो कि मैं तुम्हारे अनुरूप चलूं, तो यह सम्भव नहीं। तुम अगर मेरे साथ चल सको, तो मेरा सहयोग तुम्हारे साथ है।

सेठ फिर भी शांत नहीं हुआ पर पतझड़ों की कोशिश से उपवन की मृत्यु नहीं होती। किसी की नाराजगी से दर्पण नहीं टूटता। बाबा उसी समय खड़े हुए और जंगल में चले गए। यह घटना कोरी घटना नहीं है। यह आनन्दघन की आजादी का वीज है। यहीं से उनके जीवन में आजादी का शंखनाद होता है। बाबा तो मुक्त गगन के पंछी हैं और मुक्त गगन के पंछी को सोने के पिंजरे में ही क्यों न रखा जाए, वह सह नहीं पाएगा। गुलामी से तो, गरीबी अच्छी! कोई सेठ संत पर कितना ही खर्च क्यों न करता हो पर संत किसी का गुलाम नहीं होता। वह आजाद होता है। स्वतन्त्रता का हामी!

पागल प्राण बंधेंगे कैसे,
नभ की धुंधली दीवारों में।
हम पंछी उन्मुक्त गगन के,
हमें न बांधो प्राचीरों में।

कोई व्यक्ति यह समझता है कि मुक्त गगन के रहवासी को सोने के पिंजरे में बांध ले, संत को माया का प्रलोभन देकर आबद्ध कर ले, तो वह अपने और संत दोनों के साथ अन्याय करता है। बाबा जैसे लोग तो किसी भी स्थिति में किसी से भी बंध कर नहीं रह सकते। वे तो आत्म-स्वतन्त्र हैं। स्वतन्त्रता ही उनकी आत्मा है।

हम पंछी उन्मुक्त गगन के,
पिंजरबद्ध न गा पाएंगे।
कनक-तीलियों से टकराकर,
पुलकित पंख टूट जाएंगे।

मुक्ति का आनंद उठाने वाले बंधकर कैसे जी पाएंगे? कोई चिड़ियों का संगीत सुनना चाहे, तो वह किसी उपवन में जाए। संगीत तो स्वतन्त्र होता है। स्वतन्त्रता के ही सुर होते हैं। परतन्त्र गीत नहीं गा सकता। वह आंसू ढुलका सकता है। विरह में रो सकता है। अपनी पांखों को खिरा सकता है।

हम बहता जल पीने वाले,
मर जाएंगे भूखे-प्यासे।
कहीं भली है कटुक निंबौरी,
कनक-कटोरी की मैदा से।

नदिया का पानी पीने वाला गड्डों के पानी में रस नहीं लेगा। संत तो बहता पानी है, खुद ही बहता पानी है। तुम सोचो, उसे बांधकर रख लें। वह बंध जाएगा अगर स्वर्ण-पिंजर की लोलुपता है तब तो, अन्यथा सम्भव नहीं है। वह तो ऐसा चातक है जो पियेगा, तो मेघ-जल ही पियेगा, नहीं तो तृषातुर ही मुक्ति के गीत गुनगुनाता रहेगा।

सो परम महारस चाखै/३५

नीड़ न दो, चाहे टहनी का,
आश्रय छिन्न-भिन्न कर डालो।
लेकिन पंख दिये हैं तो,
आकुल उड़ान में विघ्न न डालो।।

जो स्वतन्त्रता का हामी है, सम्भव है, वह किसी कारण से बंध भी जाये पर परमात्मा से उसकी एक ही गुजारिश रहती है—प्रभु! पंख दिये हैं, तो उड़ान में बाधा क्यों? नियति के चाहे जैसे क्रूर हाथ उस पर चलें पर उसकी एक ही तमन्ना रहती है—मुक्ति, मुक्ति, मुक्ति !

हम मुक्त हैं। हमें कृपया मुक्त रहने दो। ऐसा कोई प्रयास न हो, जो हमें पिंजरे में ले जाए। हम मुक्त हैं, हमारी मुक्ति को, हमारे स्वयं को, हमारी ही दृष्टि से समझो।

बंधेंगे वे, जिन्हें बंधन प्रिय हैं। जिन्हें बंधन रास आते हैं, उनके लिए तो बंधन, बंधन नहीं वरन् शृंगार हैं। उन्हें बंधन में ही सुख है। पांवों में जंजीरों का ऐसा अभ्यास हो गया है कि उन्हें खोल दो, तो नींद नहीं आती। उनके द्वारा मुक्ति का, भव-मुक्ति का गीत गाना, मात्र रटे हुए शब्दों को दोहराना है।

आदमी आत्म-स्वतन्त्रता के गीत तो बहुत गाता है मगर स्वतन्त्र होने का प्रयास नहीं करता। एक पक्षी सोने के पिंजरे में कैद था। वह अच्छा पढ़ाया हुआ था। और तोतों की तरह वह भी सुबह से आवाज करता मगर उसके बोल दूसरे तोतों से भिन्न थे। दूसरे तोते तो सुबह राम-राम की रट लगाते हैं और वह आजादी-आजादी की रट लगाता। तोता जिसके यहां बंधा हुआ था, उसके यहां कोई मेहमान आया। उसने सवेरे पक्षी को रोते-कलपते देखा। उसे बहुत करुणा आयी कि बेचारा ! आजाद होने के लिए तड़प रहा है। उसने पिंजरे का दरवाजा खोल दिया मगर वह तोता उड़ने का नाम ही नहीं लेता। उसने तोते को हाथ से पकड़ कर बाहर निकाला और आसमान में उड़ा दिया। उसने सोचा आज उसने एक नेक काम किया। वह बड़ा आत्म-संतुष्ट था।

नहाने-निपटने के लिए वह मेहमान चला गया मगर जब लौटा तो देखा कि वह पक्षी पिंजरे में बैठा है और अब भी वही गीत गा रहा

हम पंछी आकाश के/३६

है—आजादी! मेरी शहजादी!! आजादी! आजादी!!

आदमी आजादी की बातें तो बहुत करता है मगर आजाद होना नहीं चाहता। बाबा आनन्दधन को सुनना उन्हीं के लिए सार्थक हो सकता है, जो वास्तव में आजाद होने की गहरी मुमुक्षा अपने भीतर रखते हैं। बाबा का मार्ग तो आत्म-स्वतन्त्रता का मार्ग है। यह मार्ग कोई भरोसे या श्रद्धा का नहीं वरन् अनुभव और प्रयोग का मार्ग है। उनके पद कोई सिद्धांत या शास्त्र नहीं हैं कि जिनकी पूजा की जाए, जिन पर चढ़ावा चढ़ाया जाए। उनके पद तो प्रयोग की निष्पत्तियां हैं। साधना के मार्ग पर चलते वक्त जो अनुभव की निष्पत्तियां हुई, वही उनके पदों में गहरा आई हैं। उनका मार्ग अनुभव का मार्ग है। वे क्रियाकाण्डी संत नहीं हैं। यहां अनुभव चाहिए, केवल अंधविश्वास से काम नहीं चलेगा। वैसे भी अब तक भरोसा कर-कर के आपने क्या उपलब्ध कर लिया? कितना भरोसा किया, विश्वास किया? जब तक विश्वास अनुभव दशा से न गुजरे, तब तक विश्वास अंधा होता है। तब आप परमात्मा के नाम की मालाएं तो खूब जपेंगे लेकिन मन में संदेह होगा कि परमात्मा है भी कि नहीं।

ईश्वर, ईश्वर नहीं वरन् शब्द-जाल, पंडित-पादरियों का पेट-भराऊ माया-जाल मात्र होगा अगर अनुभव की कोई किरण अन्तर्-हृदय में न उतरी हो तो। अनुभव की किरण स्वयं में उतर गई, तो वह ईश्वर वास्तव में ईश्वर होगा। मोक्ष केवल शब्द मात्र बन कर रह जाएगा अगर मुक्ति का कोई रसास्वाद नहीं लिया है। मरने के बाद मोक्ष उन्हीं को उपलब्ध होगा जो जीते जी मुक्ति का रसास्वाद कर लेते हैं। जो जीते जी मुक्ति के आनंद से वंचित रहा, मृत्यु उसे आनंद का उत्तराधिकारी कैसे बना पाएगी?

अनुभव प्राथमिक है। श्रद्धा और भरोसा तो अनुभव के सहचर हैं। श्रद्धा तो अनुभव की परछाई की भांति अपने-आप चली आती है। उसे लाना नहीं पड़ता। पहले से विश्वासों को आरोपित कर रखा है, तो वह विश्वास मानो, बेसाखी के सहारे चलना हुआ। अनुभव की दशा से गुजर जाओ, तो तुम्हारी बात को कोई कितना भी क्यों न काटे, तुमने जो अनुभव किया है, तुम उस पर अडिग रहोगे। स्थिर चित्त, स्थितप्रज्ञ रहोगे।

सो परम महारस चाखै/३७

श्रद्धा के कारण अनुभव नहीं घटित होता वरन् अनुभव घटित होने के बाद श्रद्धा उसका परिणाम होती है। श्रद्धा तो परिणाम के रूप में उपलब्ध हुई है। जब किसी चीज का अनुभव हो जाता है, तो उसके बाद आस्था न हो, यह सम्भव ही नहीं। आस्था अनुभव का उपसंहार है।

आनन्दघन अनुभववादी संत हैं। उन्होंने तो उन लोगों को चेताया है, जिन लोगों को चेताना सबसे कठिन है। गौतम को जगाना सरल है, गौशालक को जगाना-सुधारना कठिन है। बाबा ने गौतमों को सम्बोधित नहीं किया है, गौशालकों को सचेत किया है, उन्हें अपनी ओर खींचा है। उन्होंने उन लोगों को लपेटे लिया है, जो तत्त्व की तो महान चर्चाएं करते हैं मगर गच्छवाद में उलझे हुए हैं। उन्हें चेताया है जो अध्यात्म की ऊंची-ऊंची उड़ानें भरते हैं परन्तु बाहरी क्रियाकाण्ड में ही धर्म और अध्यात्म का सार समझते हैं। बाबा उन लोगों के लिए ललकार हैं जो छद्म वेशधारी हैं, मुंह में राम बगल में छुरी जैसी कहावत जिन लोगों पर चरितार्थ होती है, उनके लिए वे ललकार हैं, दूसरे कवीर हैं।

मैंने देखा है, लम्बे-चौड़े स्वाध्याय और तत्त्व-रटन्त करके व्यक्ति अपने आपको पंडित बना लेता है लेकिन जैसे ही गच्छ, समुदाय, सम्प्रदाय, जाति-पांति की बात आती है पता नहीं उसका तात्त्विक ज्ञान कहां चला जाता है। आदमी तत्काल किनारे हट जाता है। तब उसके लिए अध्यात्म नहीं रहता, उसके लिए मात्र गच्छ रह जाता है। वह सत्य का नहीं, अपनी जात का समर्थक हो जाता है।

जब तक व्यक्ति के हृदय से गच्छ और सम्प्रदाय के भाव नहीं मिट जाते, तब तक व्यक्ति का अध्यात्म में प्रवेश हुआ ही नहीं। वह धार्मिक, आध्यात्मिक कहलाएगा लेकिन धार्मिक कहलाना और धार्मिक होना, इसमें बहुत फर्क है। व्यक्ति कहला तो सब कुछ सकता है, कहलवाने में क्या लगता है लेकिन धार्मिकता और आध्यात्मिकता का आचमन एक अलग तथ्य है। बाबा कहते हैं तत्त्व की चर्चा करते हो मगर गच्छवाद में उलझे रहते हो। ऐसा करते तुम्हें लज्जा नहीं आती? संदेश तो अध्यात्म के देते हो मगर जीते हो ऊपर की लीपापोती में।

अनासक्ति सध जानी चाहिए। सम्भव है कि आनन्दघन हमें ललकारें। हमारी जो पूर्व मान्यताएं हैं उन्हें चोट पहुंचाएं। बाबा तो

हम पंछी आकाश के/३८

लोहार का हथौड़ा है। हथौड़ा ठंडे लोहे पर गिरेगा, तो लोहे को तोड़ेगा, गर्म लोहे पर गिरेगा, तो लोहा वांछित आकार पाएगा। बाबा कोई सुनार की हथौड़ी नहीं है कि ठक-ठक कर ली और काम बन गया। वे कभी लोहे को आग में झोंकते, उसे गर्म करते महसूस होंगे, कभी हथौड़े मारते नजर आएंगे। कभी पानी में उतारेंगे, कभी चमकाएंगे, तो कभी.....। होना भी ऐसा ही चाहिये। केवल चिकनी-चुपड़ी या तोता-रटन्त बातों से क्या होने वाला है? मियां-मिट्टू बहुत हो गये। कुछ बनना है, तो कुम्हार होना ही पड़ेगा। एक हाथ से पीटना, दूसरे हाथ से सहलाना। भीतर का कचरा, जड़बुद्धिता भी निकालना और फूल भी खिलाना, सम्बोधि की सुवास भी देना। मैं पूरा-पूरा प्रयास करूंगा कि ऐसा हो। ऐसा करने के लिए आनन्दधन का सहयोग ले रहा हूँ। बाबा से मुझे प्रेम है, उनकी अनुभव-दृष्टि आपकी अन्तरदृष्टि खोलने में काम आ सकती है।

उनके पद कोई सिद्धांत या दर्शन नहीं हैं। ये तो सिर्फ अनुभव की निष्पत्तियां हैं। इनको सुनना है, इनके बारे में सोचना है, विचार करना है और अपने में जीना है।

किसी अमृत-पुरुष के पद प्रेरणा पाने के लिए होते हैं, गले में ताबीज बनाकर पहनने के लिए नहीं। चरित्र को पढ़-सुनकर रट मत लो। चरित्र को जीवन में उतारने का प्रयास करो। पद चाहे आनन्दधन के हों या रसखान के, मीरा के हों या कबीर के, सभी अन्तर् के द्वार हैं। महावीर और बुद्ध भी क्यों न हों, उनसे प्रेरणा पाओ और आगे बढ़ो। अपने दिल का दीप खुल जलाओ।

बुद्ध कहा करते थे— अपने दीप तुम स्वयं बनो। यह मत सोचो कि बुद्ध के साथ चलते हो, तो बुद्ध तुम्हें रोशनी देंगे। मेरी रोशनी मेरे काम आएगी और तुम्हारी रोशनी तुम्हारे। मैं जब तक हूँ, तब तक रोशनी है। मैं खिसका कि अंधकार का साया घिर आयेगा। जैसे ही मैं तुमसे अलग हुआ मेरी रोशनी मेरे साथ चली जाएगी; तुम्हारा अन्धकार वापस तुम्हें घेर लेगा।

आपने संतों के प्रवचन सुने हैं लेकिन जब सुना, थोड़ा प्रभाव रहा। जैसे ही वे चले गए, वापस वैसे के वैसे हो गए। खुद को रूपान्तरित करने का जब तक स्वयं में पूरा संकल्प और प्रयास न होगा,

सो परम महारस चाखै/३६

चिराग के पास जाकर भी बुझे-बुझे वापस लौट जाओगे।

बहती नदिया आई है, वह आगे निकल जाएगी। अंजुलि भर अमृत पी लो तो आपका सौभाग्य और न पियो तो इसमें नदी का कोई दुर्भाग्य नहीं है। आपका दुर्भाग्य जरूर होगा। उस नदिया में से घड़े भर-भर पानी निकाल भी लो, तो उसमें कमी नहीं आने वाली। कोई दीप जलता है उसके पास जाकर बुझे दीप उसका सात्रिध्य पाएं, तो पहले जलने वाले दीप की रोशनी उससे कम नहीं होगी। हां! रोशनी, ज्यादा जरूर हो जाएगी। पहले एक दीप की रोशनी थी, फिर कई दीपों की रोशनी हुई। ज्योतिर्मय संघ का निर्माण इसी प्रकार होता है।

दीयों को जलाकर ही दीये को खुशी होती है। दीप तो जलेगा और जल-जलकर एक दिन वह भी विराट-ज्योति में विलीन हो जाएगा पर कुछ और दीयों को वह जला दे, औरों की बाती उकसा दे, औरों को प्रकाश से भर दे, तो उस दीप की आत्मा आह्लादित होगी, उत्सवित होगी।

दीप तो स्वयं तृषातुर होता है। वह स्वयं चाहता है कि मैं बुझूं उससे पहले कुछ और माटी के दीए ज्योतिर्मय हो जाएं। आप सभी मेरे लिए दीये हैं। जगा दीया अपनी ओर आने के लिए निमन्त्रण दे रहा है। उसका अहर्निश जलना एक आह्लाद है, ज्योति की तृषा जगाने के लिए। परमात्मा से प्रार्थना है कि उसने जो सृजन किया है, उसका समग्र मानवता के लिए उपयोग करे। जीना, महज खुद के लिए ही जीना न हो जाए, सबके लिए जीना हो। इसी में परितृप्ति है, मस्ती है।

महावीर, बुद्ध यही करते थे; पहले शिष्य बनाते, उसे रोशनी की पहचान करवाते, पश्चात् उसे कह देते—अण्ण दीवो भव—अपना दीप खुद बनो। मैंने तो केवल तुम्हें यह विश्वास दिया है कि माटी के दीये में रोशनी प्रकट हो सकती है। अपनी रोशनी को दिखा कर तुम्हारे भीतर यह आस्था पैदा कर दी है कि जब मेरा दीया रोशन हो सकता है, तो तुम्हारा क्यों नहीं हो सकता। जब मैं उन्मुक्त गगन में उड़ान भर सकता हूँ, तो तुम क्यों नहीं छलांग लगा सकते। इसीलिए कहा—

पागल प्राण बंधेंगे कैसे,
नभ की धुंधली दीवारों में।

हम पंछी आकाश के/४०

हम पंछी उन्मुक्त गगन के,
हमें न बांधो प्राचीरों में।

जो व्यक्ति पिंजरे में है अगर उसमें मुक्ति की लालसा है, तो निश्चित तौर पर वह मुक्त हो सकता है। आकाश में उड़ कर ही जान सकते हो कि आकाश का कितना आनन्द हो सकता है। घर में बैठा आदमी बाहर के आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता। पिंजरे के पंछी, जिनके भीतर मुक्ति की कामना है, वे लोग यहां तक आएंगे। मेरे पास आपको देने के लिए सिर्फ 'मुक्ति' है। मैं तो सिर्फ अनुभव की किरण आपके भीतर उतार सकता हूँ। केवल वह आँख खोल सकता हूँ, जिससे आप पिंजरे के पार फैला निरभ्र आकाश देख सकें। जीवन, जगत् को समझने की अन्तर्-दृष्टि दे सकता हूँ।

मुक्ति की भावना को लिये हुए ही, मैं आनंदघन के कुछ पदों को ले रहा हूँ। पिंजरे के पार, विराट् आकाश में उड़ने की कुछ अभीप्सा यह पद जगा दे, तो रचना सार्थक हो जाएगी। बाबा की आत्मा इससे प्रसन्न होगी। पद है—

जीऊ जाने मेरी सफल घरी।
सुत बनिता धन यौवन मातो, गरभ तणी वेदन बिसरी।
अति अचेत कछु चेतत नाहीं, पकरी टेक हारिल लकरी।
आई अचानक काल तोपची, गहैगो ज्यूं नाहर बकरी।
सुपन-राज साँच करि राचत, माचत छांह गगन बदरी।
'आनंदघन' हीरो जन छांडै, नर मोह्यो माया कँकरी।।

बाबा कहते हैं— मोह माया में उलझा हुआ व्यक्ति धन-यौवन-दाम्पत्य सुख को पाकर ही यह समझता है कि मेरे जीवन की घड़ी सफल हो गई। जीवन के मार्ग से गुजरते तो सभी लोग हैं, ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं जो जीवन का कोई विकल्प बन जाए। जिस मार्ग से महावीर और बुद्ध गुजरे थे, उसी मार्ग से हम लोग भी गुजर रहे हैं। सबका जन्म एक ही तरीके से हुआ। सब में वही रोग, बुढ़ापा आ बसता है और सभी की मृत्यु होती है। जीवन के मार्ग में, जीवन के तानों-बानों में, कहीं कोई फर्क है, तो सिर्फ इस बात का कि कोई

सो परम महारस चाखै/४१

आदमी जागकर इस मार्ग से गुजरता है और बाकी सोए-सोए।

मूर्छित दशा में जो जीवन के मार्ग से गुजरते हैं, उन्हें पुनः-पुनः संसार के दलदल में लौट आना पड़ता है। उन्हें पिंजरे का व्यामोह बुला लेता है, अपनी ओर खींच लेता है। जो जाग्रत अवस्था में बोधपूर्वक जीवन के मार्ग से गुजरते हैं वे ही मुक्ति का रसास्वादन करते हैं। पुनर्जन्म और कुछ नहीं, संसार की पाठशाला में तुमने प्रवेश लिया, ठीक से पढ़ न पाए, परीक्षा दी, फेल हो गए, वापस जीवन की उसी कक्षा में पढ़ने के लिए भेज दिए जाते हो। जो पास हो गया, वह आगे बढ़ गया। जिसने जीवन के पाठों को सही ढंग से नहीं पढ़ा, वह जन्म-जन्मांतर तक लौटेगा। वहेलियों से धिरेगा, जाल में फंसेगा, मरेगा।

बुद्ध-महावीर, कृष्ण-कबीर, घनानन्द-आनन्दघन का जीवन भी जीवन ही रहा। फर्क जागरूकता का है, चैतन्य होने का है, तीसरी आँख खुलने का है, ग्यारहवीं दिशा में उतरने का है। भीतर का तत्त्व जागृत होता है, तो आदमी के सामने चाहे अच्छे से अच्छा या बुरे से बुरा निमित्त क्यों न आ जाए, आदमी कभी उससे प्रभावित नहीं होगा। क्रोध और अहंकार दोनों में ही व्यक्ति की व्यथा है, पीड़ा है। मानव कमजोरियों का पुतला है। बुराई सुनकर उसे क्रोध आता है और तारीफ सुनकर अहंकार पनपता है। व्यक्ति पर दोहरी मार पड़ती है। बाबा का मार्ग जागरूकता का मार्ग है, क्रोध और अहंकार दोनों से उपरत होने का मार्ग है।

बाबा कहते हैं— माया से ऊपर उठो। 'अति अचेत कछु चेतत नाहीं पकरी टेक हारिल लकरी।' ऐसा नहीं कि अब तक चेताने वाले लोग नहीं मिले। चेताने वाले तो बहुत मिले मगर चेतने नहीं। माया की गांठ इतनी मजबूत है कि जो खुल ही नहीं पाती; ठीक उसी तरह जिस तरह हारिल पक्षी लकड़ी को पकड़ लेता है तो छोड़ता नहीं है। चाहे उसके छुड़ाने की चेष्टा में आग ही क्यों न लगा दो, वह लकड़ी को नहीं छोड़ता है।

आदमी सोचता है, संसार में मौजूद चीजों का आनन्द ले लूं, संन्यास तो बाद में लेना ही है। धन-यौवन, पुत्र-पत्नी का आनन्द उठा लूं, बाद में इनसे मुक्त हो जाऊंगा लेकिन ऐसा हो नहीं पाता है। मृत्यु

हम पंखी आकाश के/४२

भले ही उसे इन चीजों से मुक्त कर दे, व्यक्ति स्वतः मुक्त नहीं होता। चोंटा रहता है, गाय के थनों में लगे जोंक की तरह। कड़वा पानी पीने का ऐसा अभ्यास हो गया है कि अब तो मीठा पानी रास ही नहीं आता। कड़वापन चाहिये। क्रोधी, क्रोध छोड़ दे, उसे भीतर कुछ रिक्तता सी महसूस होगी। जड़ों में पैठ चुका है राग, माया। बाबा कहते हैं— जीऊ जाने मेरी सफल घरी। पत्नी है, बच्चे हुए, उससे मैंने जिंदगी का आनन्द लिया। जीवन की घड़ियां सफल हो गईं। लेकिन भूल जाता है, माया में बंधा है। स्वतन्त्रता उसका स्वभाव है, उसका अधिकार है पर कारागार ऐसा रास आ गया है कि मुक्त होने का जी ही नहीं करता। कारागार से कोई निकाल भी दे, तो मन बार-बार उसी कारागार के लिए, चुन्नु-मुन्नु, राखी-रेखा के पिंजरे के लिए मचलेगा।

बाबा कहते हैं— सुत वनिता धन यौवन मातो, गरभ तणी वेदन विसरी। पुत्र-पत्नी, धन-यौवन की मदिरा में डूबा आदमी भूल चुका है कि वह किन वेदनाओं से गुजर कर आया है। जीवन का अर्थ केवल पत्नी, बच्चे, धन का उपभोग ही नहीं है। जीवन के अर्थ इनसे आगे भी हैं। पत्नी-बच्चों में ही जीवन का आनन्द-उपसंहार नहीं है, जीवन तुम्हारे लिए भी है। अपने लिए भी कभी जिओ। पत्नी-बच्चों के लिए घर से दुकान और दुकान से घर बहुत हो लिये। कुछ अपने लिए भी जिओ। नशे से बाहर आकर देखो कि तुम क्या हो! मुक्त गगन के पंछी या हाड़-मांस के अस्थि-पिंजर में जकड़े कोई पालतू पंछी?

मृत्यु हो, उससे पहले जीवन, मुक्ति के मंच पर आ जाए। 'आई अचानक काल तोपची, गहैगो ज्यूं नाहर बकरी'। हर व्यक्ति मृत्यु की कतार में खड़ा है। मृत्यु तो आएगी। कब किसका क्रम आ जाए, यह पता नहीं लगता। जब मृत्यु आएगी तो व्यक्ति को ऐसे धर दबोचेगी, जैसे शेर बकरी को दबोच लेता है। मृत्यु का पता नहीं है, कब किस रूप में आए। जीवन बड़ा अजीब है पल-पल रंग बदलता है। मृत्यु की ओर बढ़ता है।

आदमी सोचता है— मैं यह करूंगा, वह करूंगा। कोई गारंटी नहीं है कि तुम दस साल तक ही जी पाओगे या नहीं। सोचते हो कल करूंगा मगर क्या विश्वास है कि कल आएगा ही। जीवन कल नहीं, आज है। वह अभी है। जो यह सोचता है कि जीवन कल भी है, तो

सो परम महारस चाखै/४३

कल तो निश्चित तौर पर आएगा लेकिन कल भी वह यही कहेगा। यों हर दिन व्यक्ति जीवन को कल पर टालता चला जाएगा। आज वह बटोरेगा, कल की व्यवस्था के लिए। अरे भले मानुष! जो प्रकृति हमारे आज की व्यवस्था कर रही है, वह कल की भी करेगी। अगर कल प्रकृति की ओर से फाका लिखा है, तो तुम कल की कितनी भी व्यवस्था कर लो, फाका ही रहेगा। धन उपयोग के लिए है, बटोर कर रखने के लिए नहीं। पर आदमी बटोरेगा। वह मस्जिद-मंदिर जाता-आता है, तो पैसे के लिए जाता है, धर्म के लिए नहीं जाता, पुण्य के लिए नहीं जाता, मुक्ति के रसास्वाद के लिए नहीं जाता। स्वार्थ के कारण आदमी मंदिर पहुंचता है। मुक्ति की कामना लिए नहीं पहुंचता।

बाबा कहते हैं— आई अचानक काल तोपची, गहैगो ज्यू नाहर बकरी। मृत्यु जब आएगी, तो कितना भी क्यों न बटोर लो, ये बटोरा हुआ यहीं रह जाएगा। देकर खुश बनो, संजो कर नहीं। हमारा तुच्छ धन, माटी का तन, किसी के काम आता है, किसी बेसहारे का सहारा बनता है, भूख से तड़पते किसी इंसान का पेट भर सकता है, किसी की बुझी आँखों में रोशनी दे सकता है, तो यह हमारा महान सौभाग्य होगा। हमारा शरीर माटी बने, इससे पहले यह किसी की सेवा में काम आ जाता है, तो यह शरीर की सार्थकता है।

‘सुपन राज साँच करि राचत, माचत छाँह गगन बदरी।’

यह संसार तो सपने की तरह है लेकिन आदमी का यह दुर्भाग्य है कि आदमी स्वप्न को हमेशा सच समझता है। जीवन के आसमान में बदली आ जाती है, आदमी बदली की छाँह में जी कर सोचता है कि उसे बहुत आनन्द मिल रहा है। लेकिन बाबा यह कहना चाहते हैं कि आखिर बदली की छाँह कितनी देर की? फिर तो वही धूप! सपने के संसार का सुख कितने देर का? मृत्यु कभी सत्य की नहीं होती, सपने की होती है। सच और सपने में फर्क होता है। हर वर्ष, नया साल आता है। आदमी नये सपनों की तलाश करता है पर सच आदमी को नहीं छोड़ता। वह नसीब बनकर आदमी का सहचर बना रहता है। टूटते केवल सपने ही हैं, सच नहीं टूटता।

गगन में उमड़ने वाली बदलियों की छाँह मात्र से आदमी मचल रहा है और सपने के राज्य को सच्चा मान कर उसमें रच-बस रहा है।

हम पंछी आकाश के/४४

हमेशा याद रखो, सपना आखिर सपना है, सोये बदन में जागे मन की उड़ान है। सपना होता तो अपना ही है, फिर भी सपना, सपना है, वह अपना होकर भी, अपना नहीं है, मात्र सपना है।

बाबा कहते हैं—आनन्दघन हीरो जन छांडै, नर मोह्यो माया कंकरी। आदमी हीरे को छोड़ रहा है और कंकरी इकट्ठी कर रहा है। निश्चय ही धन का उपयोग है। धन का उपयोग खर्च करने में है, संजो कर रखने में नहीं। साधन हमेशा उपयोग करने के लिए होता है। साधन को साध्य मत बनाओ। धन साधन है, उसका उपयोग कर डालो।

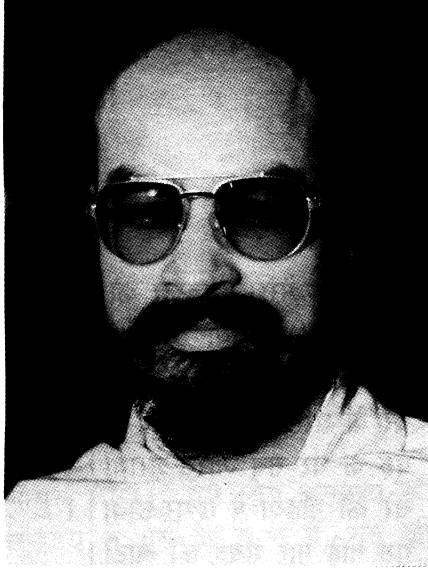
जो लोग धन बटोरने में विश्वास रखते हैं उसका उपयोग करने में नहीं, वे चूक रहे हैं, हमारे दादा ने भी बटोरा। सब यहीं छोड़ कर चले गये। धन का उपयोग कहाँ हुआ? बटोरा हुआ, जब यहीं छोड़ गये, तो धन का उपयोग अपने लिए कहाँ हुआ? आपके पिता ने दादा का ही मार्ग अपनाया। आप भी, आपकी अगली पीढ़ी भी, सभी बटोरेंगे, छोड़कर चले जाएंगे। धन का उपयोग करो। संजोकर रखने से उसका कोई अर्थ नहीं। आपने सोना इकट्ठा करके रख लिया और उसे पहन नहीं पाते, तो उसकी प्राप्ति का क्या अर्थ हुआ? आदमी संजो-संजो कर रखता है और स्वयं मर जाता है।

पैसे का उपयोग कर लो, शरीर का उपयोग कर लो। शरीर तो क्षणभंगुर है। इसलिए जितना ज्यादा उपयोग कर सकते हो, कर लो। नश्वर या अनश्वर किसी के लिए भी कर लो पर कुंठित मत रहो। मृत्यु निरन्तर हमारे करीब आ रही है, इससे पहले कि मृत्यु हमें हड़पे, तन, मन, धन, जीवन का उपयोग कर लें। मृत्यु हमारे करीब आए, तो हम अपनी छाती पर कोई तरह का भार लिये न हों। मुक्त गगन के पंछी बनें। 'अपना पथ तो मुक्त गगन' जियें मुक्त होकर, मुक्ति का हर पल आनंद उठाते हुए। बाबा का नाम है—आनंदघन। बरस रही है बदरिया जिस पर आनंद की, मस्ती की, खुमारी की। जागो! खिड़की से बाहर झांककर देखो— कौन बुला रहा है तुम्हें मुस्कराते हुए। उधर देखो!

नमस्कार!



सो परम महारस चाखै/४५



जगत् गुरु मेरा

पद

जगत गुरु मेरा, मैं जगत का चेरा ।
मिट गया वाद-विवाद का घेरा । ।
गुरु के रिधि-सिधि सम्पत्ति सारी ।
चेरे के घर खपर-अधारी । ।
गुरु के घर सब जरित-जरावा ।
चेरे की मढ़िया में छप्पर-छावा । ।
गुरु मोहे मारे सबद की लाठी ।
चेरे की मति अपराध नी काठी । ।
गुरु के घर का मरम न पावा ।
अकथ-कहानी आनंदघन बाबा । ।

जगत् गुरु मेरा/४८

जगत् गुरु मेरा

मेरे प्रिय आत्मन्!

‘गुरु चरण-गुरु शरणं।’ ऐसे लोग कृतपुण्य और सौभाग्यशाली हैं, जिनके अन्तर्-हृदय में गुरु के चरण हैं, गुरु की शरण है। वे भाग्यवंत हैं, आत्मवासी हैं, जिनके अन्तर्-मानस में सद्गुरु की लौ जगमगा रही है। यह लौ भीतर के अंधकार को भगाने के लिए पर्याप्त है। बदलती परिस्थितियों के चलते मनुष्य की धर्म से जड़ें टूट चुकी हैं। ऐसे में सद्गुरु की स्मृति, उस परम-पुरुष की सन्निधि हमें प्रकाश से भर सकती है, अपने आभा-मंडल से आलोकित कर सकती है।

मनुष्य वर्तमान में हाथ में बुझी हुई मशाल उठाए चल रहा है क्योंकि धर्म से उसकी जड़ें कट जाने के कारण उसकी लौ बुझ चुकी है। मनुष्य हाथों में खाली डंडे लेकर न जाने किस दिशा में चला जा रहा है। परिणाम यह हुआ है कि हमने अपने-अपने गुरु और उनके पंथ को लेकर लड़ना शुरू कर दिया है।

इतिहास में अब तक जो परमात्मा, तीर्थंकर, अवतार, सद्गुरु या सिद्ध हो चुके हैं, वह उनका सौभाग्य था। हमारा सौभाग्य तो यही है

सो परम महारस चाखै/४६

कि हमें अपने युग में ही अपने सद्गुरु की तलाश करनी होगी। अतीत की उज्वलता का मात्र स्मरण ही नहीं करना है अपितु वर्तमान को उज्वल करने का प्रयास भी करना है।

सद्गुरु की स्मृति निश्चित ही लाभप्रद है लेकिन अतीत का सद्गुरु जीवन में क्रान्ति घटित नहीं कर सकता। जीवित सद्गुरु ही आत्म-चेतना के साथ जीवन का सम्बन्ध जोड़ सकता है। शाश्वत मूल्यों को उपलब्ध करने में हमें मदद दे सकता है। हम गुरु का स्मरण करें, गुरु को याद करें, किसी परम-पुरुष को याद करें, तो हमारे भीतर भी चैतन्य-जागरण के स्फूर्लिंग प्रकट होने लगते हैं। चेतना परिवर्तित होने लगती है। भावनात्मक रूपान्तरण घटित होता है।

खिले हुए फूल को देखो। किसी खिलते हुए फूल को देखकर हमारे भीतर भी कोई फूल खिलने लगता है। बहते हुए झरने का स्मरण करो, तो हमारे भीतर झरने जैसा कल-कल नाद प्रारंभ हो जाता है। निरंतर आसमान को देखते चले जाओ, भीतर भी आकाश जैसा विराट शून्य प्रकट होने लगता है। जैसा देखो, जैसा सोचो, वैसा ही भीतर प्रकट होने लगता है। गुरु की स्मृति भी व्यक्ति के लिए फायदेमंद होती है। गुरु की याद के साथ अगर जीवित सद्गुरु की तलाश भी प्रारंभ करो, तो जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन होने की संभावना है। अतीत के गुरु की याद और वर्तमान के गुरु की खोज!

ऐसा नहीं है कि शिष्य ही गुरु की तलाश करता है वरन् गुरु भी सही शिष्य की तलाश करता है। गौतम को महावीर जैसे सद्गुरु मिले, यह गौतम का सौभाग्य था पर महावीर को गौतम-सा शिष्य मिला, इसे भी कम सौभाग्य की बात न समझें। गौतम-सा समर्पित शिष्य, खोजने से न मिलेगा। मेरी नजर में तो सद्गुरु को पाना जितना मुश्किल है, सही शिष्य को पाना उससे भी कठिन है। इतिहास में द्रोणाचार्य हजारों मिल जाएँगे पर एकलव्य जैसे पाँच-पच्चीस भी नहीं। बिना अर्जुन के भला कृष्ण के मुख से गीता कैसे अवतरित होती? जैसे गोमुख से गंगा निःसृत होने का श्रेय भागीरथ को जाता है, वैसे ही गीता के अवतरण का श्रेय अर्जुन को दिया जाना चाहिये।

कहने भर को तो जीवन में गुरु कई मिल जाएँगे, ऊँचे-ऊँचे पदों पर भी, पर लिखने भर से तो कोई गुरु नहीं हो जाता। हर साधु अपने

जगत् गुरु मेरा/५०

नाम के साथ गुरु लिखने-लिखवाने में लगा है पर जीवन में गुरुता कहां है? कहने भर को फूल हैं, पर सौरभ? कहीं नामो-निशान नहीं मिलेगा सौरभ का। आचार्य पद पाना या नाम के साथ आचार्य शब्द लिखना जितना सरल है, जीवन का आचार्य बनना, जीवन का कायाकल्प करना उतना ही मुश्किल है। जीवन तो अनाचार के गर्त में गिर रहा है और तुम स्वयं को आचार्य कहकर शिखर-पुरुष कहलाना चाहते हो। यह 'गुरु' और 'आचार्य' पद भी मानो पद्मश्री जैसी उपाधि बन गया हो। और शिष्य! शिष्य सही मिले, यह भी कब सम्भव है? शिष्य के नाम पर सारे गुरु ही मिलते हैं। और गुरु भी ऊँचे दर्जे के। मौका मिलने की देर है। 'चेला नहीं तो न करो चिंता, चेले पण घणो दीधो दुख' यह समयसुंदर जैसे पंडित-पुरुष की व्यथा है। इसीलिये शिष्यों की बढ़ोतरी या समाज में छाप छोड़ने के लिए चलते-फिरतों को चेला मत बना लेना। सद्शिष्य की तलाश की जानी चाहिये। बगैर पात्रता के कोई शिष्य नहीं है और बगैर गहराई के कोई गुरु नहीं है। सही शिष्य और सही गुरु दोनों दुर्लभ हैं।

मैं अपने ही जीवन की घटना कहूँ— मेरा संकल्प था कि मैं किसी को प्रेरित करके शिष्य नहीं बनाऊंगा। किसी की नियति में मेरा शिष्य होना लिखा है, तो उसके साथ स्वयं शिष्यत्व घटित होगा। किसी की चोटी खींचकर कोई दीक्षा होती है, तो उसका कोई अर्थ नहीं है। स्वयं उसी में शिष्यत्व घटित होना चाहिए। ऐसा ही संयोग बना। एक प्यासी आत्मा जिसके मन में यह प्रतिज्ञा थी कि मैं अपने जीवन में किसी को गुरु कहूंगा नहीं, किसी को गुरु मानूंगा नहीं; मेरे अन्तर्-हृदय में जो कुछ घटित कर देगा, वही मेरा गुरु होगा और ऐसी क्रान्ति घटित हुई। तब एक शिष्य पैदा हुआ, तब एक गुरु पैदा हुआ।

गुरु स्वयं शिष्य की तलाश करता है। यह समझने जैसी बात है कि गुरु स्वयं शिष्य की तलाश करता है। सही पात्र की तलाश करता है। ऐसे पात्र की, जिसमें वह अपने जीवन के रहस्यों को उंडेल सके; अपना ज्ञान, अपनी प्राणवत्ता, अपनी चैतन्यता जिसमें अवतरित कर सके। अनुयायी तो बहुत हो सकते हैं। शिष्य, सही अर्थ में शिष्य, जिस पर आत्म-विश्वास हो, आत्मज्ञान दिया जा सके, ऐसे कोई-कोई होते हैं।

एक महान दार्शनिक हुए हैं—बायस। बायस के बारे में प्रसिद्ध है कि वे दिन के उजाले में हाथ में कंदील थामे नगर-नगर, गांव-गांव, एक-एक विद्यालय-महाविद्यालय तक जाया करते। एक इतना बड़ा दार्शनिक और दिन में कंदील थामे, चिमनी लिये गांव-गांव, गली-गली घूमे, तो लोगों को लगता कि बायस पागल हो गए हैं। दिन में सूरज के उजाले में कंदील थामे चलते हैं। लोग कारण पूछते तो वे कहते, 'मैं एक शिष्य की तलाश में हूँ। लोग कहते कि तुम शिष्य की तलाश में हो, हम शिष्य बनने को तैयार हैं अगर तुम अपना ज्ञान, अपनी संबोधि, जीवन के रहस्य हमें प्रदान कर दो। बायस झल्ला उठता। कहता कि तुम शिष्य नहीं हो, तुम सब शैतान हो। तुम में से कोई भी मेरे काबिल नहीं है। तुम सब अंधे घड़े हो। मुझे ऐसा व्यक्ति चाहिये जो मेरे लिए 'खुद' को मिटा सके। तुम सब अहंकार और अकल के पुतले हो।

लोग बायस की खिल्ली उड़ाते। स्वयं पात्र की तलाश कर रहे हैं, हाथ में कंदील थामकर! क्या दिन के उजाले में तुम्हें दिखाई नहीं देता? इतना बड़ा सूरज चमक रहा है, यह कंदील जिसके सामने कुछ भी नहीं है। तुम उसे कैसे ढूँढोगे? तो बायस कहा करते, 'जिस पात्र को सूरज की रोशनी में नहीं ढूँढा जा सकता, उस पात्र को दीये की रोशनी में ढूँढा जा सकता है। इस कंदील को तुम सामान्य कंदील मत समझो। यही तो वह कंदील है, जिसके द्वारा मुझे शिष्य की तलाश करनी है। जिसने पूछ लिया कि दिन के उजाले में कंदील क्यों जलाया, उसने तो पहले चरण में ही अपनी अपात्रता जाहिर कर दी।'

गुरु के सामने क्यों का प्रश्न नहीं आता; कैसे का प्रश्न नहीं आता; गुरु तो मात्र देता है, लुटाता है। जैसे दार्शनिक बायस कंदील लेकर अपना ज्ञान देने के लिए, अपने अनुभव देने के लिए शिष्य की तलाश करता है, ऐसे ही सद्गुरु अपना ज्ञान, अपनी संबोधि, अपना आत्मबोध किसी को देने के लिए, किसी में स्थानान्तरित करने के लिए सही पात्र की, सही समय की तलाश करते हैं।

गुरु का महत्व उनके लिए है, जिनके हृदय में प्यास होती है। अभीप्सा होती है। कोई प्यासा है तो गुरु का अर्थ है। प्यास ही नहीं है, तो सद्गुरु के सोतों का क्या अर्थ? कुआ उनका नहीं है, जिनके

मौहल्ले में वह खुदा हुआ है। कुआ उनका है, जो उस कुए का पानी पीते हैं। पानी उनका है जो प्यासे हैं। कुए के किनारे बैठकर बातें चाहे जितनी कर लो लेकिन कुए के किनारे बैठकर बातें करने से कुआ तुम्हारा नहीं हो जाएगा। प्यास नहीं बुझेगी। गुरु भी उनके लिए हैं, जिनके हृदय में गुरु को खोजने के लिए कोई तड़पन है, गहरी तमन्ना है, अभीप्सा है। एक ऐसी प्यास जिसमें और सारी प्यासें तिरोहित हो जाएं।

जिनके अन्तर्-मन में अपने व्यक्तित्व के परम-विकास के लिए, चेतना के परम-विकास के लिए गहरी मुमुक्षा है, उन्हीं के लिए सद्गुरु की सार्थकता है। कबीर कहते हैं— सद्गुरु तेने जानिये, सत से देय मिलाय।

सद्गुरु जो हमें सत् से मिला दे। सत् से जो साक्षात्कार करवाए वही गुरु है। जो आत्म-मिलन करवा दे वही गुरु है।

सद्गुरु का पहला काम है— व्यक्ति के अन्तर्-मानस में जो मूर्च्छा है, मूर्च्छा की जो जंजीरें और शलाकाएं पड़ी हैं, उन जंजीरों को खोले; उन बंधनों को खोले। पिंजरे से मुक्ति दे—अनंत आकाश में उड़ान भरने के लिए।

गुरु का पहला काम होता है, मूर्च्छा को तोड़ना, व्यक्ति को उस संदेश का स्वामी बनाना, जिससे वह अपने बंधनों को नीचे गिरा सके, अपनी ग्रंथियों को खोल सके। गुरु का काम है— वह संदेश देना, जिससे हमारी मूर्च्छा टूट सके। दूसरा काम है— साधक का जो परम-श्रेय हो सकता है, वह परम-श्रेय प्राप्त करने में उसकी मदद करे।

व्यक्ति मूर्च्छित है तभी तो संसार उसके लिए संसार है। जिस दिन मूर्च्छा टूट जायेगी। उस दिन संसार नहीं रहेगा। मूर्च्छा है, तब तक दलदल है। जिस दिन मूर्च्छा टूट गई, उसी दिन कीचड़ में कमल खिल आएगा। फिर कोई दलदल, दलदल नहीं रहेगा। फिर तो वहाँ से कमल की पंखुड़ियाँ निर्लिप्त होकर खिल उठेंगी। ऐसा भी नहीं है कि व्यक्ति को दलदल में फंसे होने का ज्ञान नहीं है। ज्ञान तो है। समझ भी गहरी है, अक्ल तो है, बहुत कुछ उसने अब तक समझ रखा है, सुन रखा है। उसने आदर्श को भी सुना है, आदेश को भी सुना है और उपदेश को भी सुना है लेकिन इसके बावजूद मनुष्य की मूर्च्छा इतनी

सो परम महारस चाखै/५३

गहरी है कि वह अपने अज्ञान से बाहर निकल नहीं पाता। क्रोध का ज्ञान होने के बावजूद व्यक्ति क्रोध से मुक्त नहीं हो पाता और प्रेम का ज्ञान होने के बावजूद व्यक्ति प्रेम का आचरण नहीं कर पाता। व्यक्ति जानता है कि वासना बुरी है लेकिन इस बात की समझ होते हुए भी वासना की मूर्च्छा इतनी गहरी है कि व्यक्ति वासना से बाहर नहीं निकल पाता है। जितनी गहरी मनुष्य के अन्तर्-हृदय में वासना है, उतनी ही गहरी मुक्ति की कामना हो, तभी जीवन में मुक्ति की कोई क्रान्ति घटित हो सकती है। आदमी सोते-जागते हर समय वासना से ग्रस्त रहता है, जब उतनी ही तीव्रता, उतनी ही त्वरा, उतनी ही प्रखरता मुक्ति की होगी, तभी मनुष्य के भीतर का द्वारोद्घाटन होगा।

हमारी मूर्च्छा गहरी है। सद्गुरु का काम है हमारी मूर्च्छा को तोड़ना। सद्गुरु का काम है कि वे आँखें हमें कैसे मिल जाएं, जिनसे हम कीचड़ को कीचड़ समझ सकें और कमल को कमल। वह हंस-दृष्टि हमें कैसे उपलब्ध हो जाए, जिससे हम सत्य को सत्य और असत्य को असत्य, संसार को संसार और संन्यास को संन्यास, दूध को दूध और पानी को पानी, दोनों को अलग-अलग समझ सकें। सद्गुरु हमें हंस-दृष्टि देता है ताकि हम सत्य को सत्य और असत्य को असत्य जान सकें। सद्गुरु मुक्ति की मंजिल तक ले जाने वाला मील का पत्थर है।

सद्गुरु पारस है। सौंप देना स्वयं को सद्गुरु को, जीवन के पत्थर को घड़ने के लिए, पत्थर से मूरत घड़ने के लिए। पूरी तैयारी के साथ। हाथ तभी पकड़वाना जब अपनी ओर से ऐसी कोई तैयारी हो, अपने भावों में ऐसी कोई भूमिका हो कि मैं मुक्ति पाना चाहता हूँ। हमने उनका हाथ तो पकड़ लिया पर हाथ थामने के बाद वे हम पर रीझ गए तो हम सद्गुरु से मुक्ति नहीं मांग पाएंगे। तब हम चाहेंगे कि सद्गुरु! कुछ ऐसा करो कि जिससे मेरा व्यवसाय अच्छा चले। कुछ ऐसा इंतजाम करो कि मेरे बिगड़े काम पूरे हो जाएं। सोना-चांदी, मकान-जायदाद में बढ़ोतरी हो जाये।

यह चूक है। हीरा ढूँढने निकले और कांच पाकर खुश हो गये। सद्गुरु का उपयोग तो स्वयं को पाने के लिए है, स्वयं से साक्षात्कार के लिए है। प्रज्ञा-नेत्र का उद्घाटन करने के लिए सद्गुरु है। बाहर की आंख तो सदा हमारे पास है पर उस आंख में जो किरकिरी गिरी है, जो

जगत् गुरु मेरा/५४

मूर्च्छा-मदहोशी है, सद्गुरु चाहता है, वह बेहोशी मिट जाए, नशा उतर जाए।

एक आदमी बड़ा शराबी था और शराब के नशे में वह रात को देर-सबेर अपने घर पहुंचता। पत्नी को उसकी प्रतीक्षा करनी पड़ती। दरवाजा खोलना पड़ता। आखिर पत्नी ने एक रास्ता निकाला। उसने पति से कहा कि हम एक नया ताला ले आते हैं। उसकी दो चाबियां रहेंगी। एक तुम्हारे पास और एक मेरे पास। तुम जब बाहर जाओ, शराब पीने के लिए तो एक चाबी अपने साथ ले जाना और जब वापस आओ तो चाबी तुम्हारे पास रहेगी, ताला खोलकर अन्दर आ जाना।

संयोग ऐसा बना कि अगले दिन वह शराब पीकर वापस लौटा। पत्नी जगी हुई थी। मकान की छत पर खड़ी वह पति का इन्तजार कर रही थी। पति पहुँचा। बाहर बल्ब जल रहा था, प्रकाश था। उसने काफी देर तक दरवाजा दूँढा। जब काफी देर तक दरवाजा नहीं खुला तो पत्नी ने ऊपर से आवाज दी कि कहीं चाबी खो तो नहीं गई है? इतनी देर क्यों लग गई? शराबी पति ने कहा कि चाबी तो मेरे हाथ में है पर ताला खो गया है। हो सके तो उपर से ताला फेंक दे।

ताला सामने है, चाबी हाथ में है मगर चाबी लग नहीं पाती। इसलिए नहीं लग पाती है कि शराब का नशा है और सद्गुरु का काम है कि वह नशा कैसे उतर जाए? गहरी मूर्च्छा कैसे टूट जाए? सद्गुरु का यही उपयोग है।

इस दुनिया में चाबियां तो ढेर सारी हैं, सबके पास चाबियां हैं लेकिन सारी चाबियां संसार को खोलने की हैं, मुक्ति के तालों को खोलने की चाबी किसी के पास नहीं है। चाबियों के झुमके तो बड़े लटकाए-लटकाए रहते हैं। पश्चिम बंगाल में चाहे कोई महिला दो सौ रुपये महीने की नौकरी करती हो, फिर भी उसकी साड़ी के पल्लू में दस-पाँच चाबियां तो मिल जाएंगी। चाबियों की खनखनाहट बड़ा आनन्द देती है। तिजोरी न हो, माल न हो, फिर भी चाबियों की खनखनाहट बड़ा मजा देती है, मन को तृप्ति देती है। एक नौकर ने अपने सेठ से कहा कि मैं आपके यहां बीस वर्षों से नौकरी करता हूँ मगर अभी तक भी आप मुझ पर पूरा विश्वास नहीं करते। सेठ ने कहा— बेवकूफ! तू कैसी बात करता है। मैंने घर-भर की सारी चाबियां

सो परम महारस चाखै/५५

तुझे पकड़ा दी हैं और तू कहता है कि विश्वास नहीं है। तिजोरी तक की मैंने चाबियां दे रखी हैं और तू कहता है कि विश्वास नहीं है। नौकर चुटकी लेते हुए बोला— यही तो मुसीबत है। आपने चाबियां तो इतनी सारी सौंप दी हैं मगर एक भी चाबी लगती नहीं है।

कोरी बातों से कुछ नहीं होगा। ये चाबियां भी अन्ततः एक बोझ महसूस होंगी, तब ताला सामने आएगा। उस कुए की क्या मूल्यवत्ता जो प्यासे की प्यास बुझाने में असमर्थ है। सद्गुरु वह कुआ है जो प्यासे की प्यास बुझाये। प्यास जगाए भी वही और बुझाये भी वही।

गुरु का कार्य अन्तर्-बोध को जागृत करना है। मात्र बाहर की उज्वलता से जीवन के मूल अस्तित्व का क्या संबंध है? अन्तर् का विरेचन का होना आवश्यक है। अन्तर् में कलुषता भरी है तो बाहर का सौन्दर्य क्या कर पायेगा? गुरु का कार्य अन्तर्-सौन्दर्य को प्रकट करना है।

रीझते हैं आप, बाहर की सफाई पर।

वर्क सोने का लगा है, गोबर की मिठाई पर।।

हमारा रीझना केवल बाहर-बाहर हो रहा है और सद्गुरु का सम्बन्ध बाहर से नहीं अन्तरात्मा से होता है। वह हमारी अन्तर्-दशा पर रीझता है।

दुनिया में चेतना के तीन आयाम हैं— एक वह चेतना है, जिसे हम पूर्ण-मूर्च्छित कहेंगे। जो बाहर से भी मूर्च्छित है और भीतर से भी। दूसरी चेतना वह है जिसे हम बहिर्जागृत लेकिन अन्तर्मूर्च्छित कहेंगे। बाहर से जगा हुआ है, व्यवहार में तो जागृत, बड़ा चुस्त है पर भीतर से वह मूर्च्छित है।

तीसरी वह चेतना है, जिसमें व्यक्ति अन्तर्जागृत भी होता है और बहिर्जागृत भी। बाहर से भी जगा हुआ है और भीतर से भी जगा हुआ है। आदमी बाहर से सोया रहा, कोई दिक्कत नहीं। बाहर जागा हुआ है और भीतर सोया है, भीतर मूर्च्छा है, भीतर में नींद है तो बाहर-बाहर का जागरण, जागरण नहीं कहलाता। वह मात्र बाहर की

जगत् गुरु मेरा/५६

आंखों का खुलना है लेकिन भीतर का जागरण ही अध्यात्म की दृष्टि से चेतना का जागरण है, जिससे जीवन में अध्यात्म का विकास हो सके।

बाबा ने गाया है—

जगत् गुरु मेरा, मैं जगत् का घेरा।
मिट गया वाद-विवाद का घेरा।।
गुरु के रिधि-सिधि सम्पत्ति सारी,
घेरे के घर खपर अधारी।।
गुरु के घर सब जरित-जरावा,
घेरे की मढ़िया में छप्पर छावा।।
गुरु मोहे मारै सबद की लाठी,
घेरे की मति अपराध नी काठी।।
गुरु के घर का मरम न पावा,
अकथ-कहानी आनंदघन बाबा।।

स्वयं में गुरु का गौरव नहीं पनपा पर गर्व करना शुरू कर दिया। शिष्य बनाते समय तुम्हारा लक्ष्य किसी के जीवन का कल्याण नहीं अपितु शिष्य-परिवार में वृद्धि करने का रहता है, तो शिष्य के साथ तो धोखा है ही, स्वयं के साथ भी धोखा है।

सर्वप्रथम तो आनंदघन अपने पद में यह कहना चाहते हैं कि मुझे गुरु की तलाश थी, इसलिए कि मैंने अपने आपको अपराधों से घिरा हुआ पाया। स्वयं को मूर्च्छित व संसार की बेहोशी में पाया। जब मैंने गुरु की तलाश प्रारंभ की तो मेरे सामने मुसीबत खड़ी हो गई। जिसे देखो मेरा गुरु बनने को तैयार और आज जब मैं योग-साधना की इस पराकाष्ठा पर पहुंच चुका हूँ, तब भी मैं कहूँ कि तू मेरा गुरु है तो बड़ा खुश होता है। उसकी आत्मा बड़ी प्रसन्न होती है। प्रसन्न आत्मा से हर कोई एक दूसरे का गुरु बनने को तैयार है। उस व्यक्ति में योग्यता या पात्रता हो या नहीं पर जमात बढ़नी चाहिए। तुमने संख्या में वृद्धि के लोभवश शिष्य तो खूब सारे बना लिए पर उनको दिया कुछ नहीं। यह दुर्भाग्य की बात है कि आज दीक्षा में वैराग्य कम, बहकावा अधिक काम कर रहा है। जिस महान उद्देश्य को बताकर दीक्षा ली/दी जाती है, उसमें हम कितने खरे उतर पाते हैं?

सो परम महारस चाखै/५७

इसलिए जब तक स्वयं में इतने आत्म-विश्वस्त नहीं हो जाते कि मैंने उपलब्ध कर लिया है, तब तक किसी और को प्रेरणा मत दो क्योंकि वह आगे तो बढ़ जाएगा पर जब तुम स्वयं अंधकार में बैठे हो तो उसको प्रकाश कैसे दे पाओगे? अंधा अंधे को मार्ग नहीं सुझा सकता।

आनंदघन के सामने भी ऐसी ही समस्या आई और उन्होंने गुरु की तलाश शुरू कर दी। गुरु को खोजते चले गए। उन्हें दुनिया में इतने गुरु मिले कि जिसकी कोई सीमा नहीं। जो चोटी उखड़ा दे, कपड़े बदलवा दे, वह गुरु तो एक ही होता है पर ज्ञान देने वाले, सीख देने वाले गुरु तो कदम-कदम पर मिल जाएंगे।

किसी बच्चे को भी बच्चा मत समझो क्योंकि उस बच्चे से भी तुम्हें महान सीख मिल सकती है, कोई महान सबक मिल सकता है। आदमी का यह अज्ञान और मूर्च्छा है कि वह बच्चे को बच्चा समझता है। बच्चा कोई सलाह देना चाहता है तो आदमी लेना नहीं चाहता और कहता कि तू बच्चा है, मुझे क्या देगा? बड़ों ने अब तक यही सबसे बड़ी चूक की है। बड़े सोचते हैं कि यह बच्चा मुझे कुछ भी सीख नहीं दे सकता। बालक में भी ज्ञान की सम्भावना है। बालक में भी तुम-सी ही सत्ता है। बालक में नचिकेता की आत्मा है।

सबक तो कहीं से भी मिल सकता है अगर सीखने की ललक हो और सीखने व जानने की आंखें हमारे पास हों। पेड़ की हर पत्ती पर वेदों के मंत्र लिखे हुए मिल जाएंगे। चिड़िया के शोरगुल में भी कुरआन की आयतें मिल जाएंगी। जिस बच्चे को हम तुच्छ समझते हैं, वह तुच्छ नहीं है। वह भी हमें बहुत बड़ी सीख दे सकता है। शैशव तो परमात्मा के राज्य में प्रवेश पाने का सुनहरा द्वार है।

एक तेरह-चौदह वर्ष का बच्चा बोला कि मेरी दादीजी को बोलने की तमीज नहीं है। मेरी दादी सत्तर वर्ष की हो गई हैं, फिर भी मुंह से गालियाँ निकालती हैं। एक चौदह वर्ष के बच्चे को इतनी समझ है कि उसकी दादी जो गालियाँ निकालती हैं, वे ठीक नहीं हैं। दादी सत्तर वर्ष की होने पर भी यह नहीं समझ पाई कि उसे गालियाँ निकालनी चाहिए या नहीं।

समझ का क्या, जब जागे तभी सवेरा। किसी से भी हमें सीख

जगत् गुरु मेरा/५८

मिल सकती है। आदमी मंदिर जाता है। वहां वह बालकृष्ण की छोटी-सी मूर्ति का पूजन करता है, उसे भोग लगाता है। वही व्यक्ति घर आकर अपने आठ वर्षीय बच्चे को चांटा मारता है। तुमने एक पाषाण के परमात्मा को तो धोक लगाई और जीवित परमात्मा को चांटा लगाया। तुम एक मूर्ति के सामने तो धोक लगाने को तैयार हो और एक जीवित इन्सान को जिसमें प्रेम, समर्पण, निश्छलता, वीतरागता है उसे स्वीकार करने को तैयार नहीं हो।

कोई बच्चा, बच्चा नहीं। कोई बड़ा, बड़ा नहीं। आत्मा की दृष्टि से सभी समान हैं। लाओत्से के बारे में प्रसिद्ध है कि जब वह पैदा हुआ तो वह बूढ़े की तरह पैदा हुआ। बच्चे की तरह पैदा नहीं हुआ। वह बूढ़ा पैदा हुआ, इसका मतलब यह नहीं कि वह चेहरे पर झुर्रियां लेकर पैदा हुआ होगा या पैदा होते ही लाठी के सहारे चलता होगा। वह ज्ञान-वृद्ध पैदा हुआ। जन्म के साथ ही प्रज्ञा, सधी हुई दृष्टि लेकर पैदा हुआ। जरा कल्पना करो, शंकराचार्य कोई बूढ़े होकर नहीं मरे मगर फिर भी वे महान-वृद्ध होकर गुजरे। तैंतीस साल की उम्र में तो शंकराचार्य चल ही बसे लेकिन इतनी अल्पायु में भी ज्ञान का जो सृजन किया, ज्ञान की किरण को धरती पर उतारा, हिन्दू धर्म के दो हजार वर्षों के इतिहास में उनकी टक्कर का कोई आचार्य नहीं हो पाया।

सीखने की ललक है तो धरती पर कहीं भी चले जाओ, हर व्यक्ति तुम्हारा गुरु है। आनंदघन कहते हैं— मैंने तो मान लिया। झमेला ही खत्म हो जाए कि यह शिष्य, वह गुरु। सारा जगत् ही मेरा गुरु है। अब कोई वाद-विवाद नहीं है कि किसको गुरु कहूं और किसको चेला कहूं। अब मेरे लिए कोई व्यक्ति-विशेष गुरु नहीं है। सीखना चाहते हो तो झरने के पास जाकर बैठ जाओ। बहते हुए झरने को देखो, तुम्हें कर्मयोग की प्रेरणा मिलेगी। पानी पर उठने वाली तरंगों को देखकर संसार की नश्वरता का बोध होगा। तुम्हें संसार भी ऐसा ही नश्वर, जीवन भी ऐसा ही क्षणभंगुर दिखाई देगा। झरनों का नाद तुम्हें जीवन में भी मिल जाएगा।

तुम गुलाब के फूल को जाकर देखो तो वह महकता हुआ, मस्त, प्रसन्न दिखाई देगा। तुम चाहो तो अपने-आपको गुलाब के फूल की तरह खिला सकते हो; कांटे की तरह कांटा बन सकते हो और फूल की

सो परम महारस चाखै/५६

तरह फूल बन सकते हो। सब कुछ हम पर निर्भर करता है कि हम क्या बनना चाहते हैं?

सम्राट अकबर के बारे में सभी जानते हैं कि अकबर अंगूठा-छाप आदमी था। उसे अपने हस्ताक्षर तक करने नहीं आते थे पर उसकी सभा में दुनिया भर के विद्वान रहते थे। एक मुसलमान सम्राट होते हुए भी जैन-आचार्यों को सम्मान देता, ईसाई पादरियों को अपनी सभा में आमंत्रित करता और हिन्दू-पंडितों को अपना राजपुरोहित बनाता।

गुण तो हर जगह हैं। गुण लेने की कला हो, तो हर व्यक्ति में कोई न कोई गुण है। हमारी दृष्टि गुणात्मक हो, तो सर्वत्र गुण हैं। ऐसा नहीं है कि परम-पुरुष या महापुरुष सारे के सारे अतीत में ही हुए हैं, वर्तमान में कोई नहीं है। नहीं! वर्तमान में भी महापुरुष, परम-पुरुष उपलब्ध हैं। तुम्हारी दृष्टि सम्यक्-दृष्टि है, तो सर्वत्र सद्पुरुष ही सद्पुरुष हैं। तुम्हारी दृष्टि ही असम्यक्, मिथ्या और मूर्च्छाग्रस्त है, तो तुम महावीर के पास जाकर भी खाली हाथ लौट आओगे, ठीक वैसे ही जैसे गौशालक लौट आया था। वह महावीर जैसे तीर्थंकर के पास जाकर भी मुक्त नहीं हो पाया। महावीर के पास जाकर भी तेजोलेश्या ही सीख पाया। सद्गुरु के पास जाकर भी व्यक्ति कुछ हासिल नहीं कर पाता क्योंकि सत् को पाने की भीतर कोई ललक नहीं है। नतीजा यह होगा कि तुम सद्पुरुष के पास जाओगे तो भी तुम्हें वहां सत् दिखाई नहीं देगा। तुम्हारी असत् वृत्तियां वहाँ से भी कुछ असत् ही ग्रहण कर आयेंगी।

किसी साध्वी के पास कोई पुरुष बैठा है, तो तुम यह नहीं सोचोगे कि वह उनका शिष्य है। तुम सोचोगे कि दाल में जरूर कुछ काला है। दाल में काला वहां नहीं है। दाल में काला तुम्हारी आंखों में है, इसलिए तुम्हें सर्वत्र दाल में काला ही दिखाई देता है। किसी सद्गुरु के पास महिला अकेली बैठी मिल जाए, तो तुम्हारी मानसिकता में सब कुछ अन्यथा हो जायेगा

जिस नजर को लेकर हम वहाँ जाते हैं, हमारे लिए सब वही हो जाता है। काला चश्मा पहनकर हम सोचें कि दीवार हमें सफेद दिखाई दे, तो यह संभव नहीं है। दीवार तो सफेद है, सफेद थी और सफेद रहेगी। तुमने उस दीवार को काला कहा, तो दीवार काली नहीं हुई

जगत् गुरु मेरा/६०

मगर काले चश्मे के कारण तुम्हारा दृष्टिकोण जरूर काला हो गया। पहले अपनी नजर सुधारो। पहले अपने काले, हरे, नीले, पीले चश्मों को उतारो। फिर स्वच्छ आंखों से किसी को देखो, तो तुम्हें सब जगह अच्छी चीजें दिखाई देंगी। तब संन्यासी में ही संन्यास दिखाई नहीं देगा वरन् असंन्यासी में भी संन्यास की नई किरण नजर आ जाएगी।

आचार्य स्थूलिभद्र वेश्या के यहां चातुर्मास करके आए और शास्त्रों ने गुणगान गा दिया, तो तुमने भी मान लिया। आचार्य स्थूलिभद्र इस जमाने में होते, तो हम उन्हें अपने काले चश्मों से देखते और उन पर पत्थर ही मारते। लोग स्थूलिभद्र को सन्त या आचार्य नहीं, मजनूं कहते। तब कोशा उनके लिए कोई श्राविका नहीं, वेश्या ही होती, जो पहले थी।

आनंदघन कहते हैं—

जगत् गुरु मेरा, मैं जगत् का चरा।
मिट गया वाद-विवाद का घेरा।।

अब कैसा विवाद, कैसी सरपच्ची? मैंने तो मान लिया कि सारा संसार ही मेरा गुरु है। अब मैं किसका प्रभु, किसका दास? अपने से सबको बड़ा मान लिया।

यथार्थ में व्यक्ति का अहंकार इतना झुक जाना चाहिए कि वह जगत् को ही अपना गुरु स्वीकार कर ले। ईगो शून्य हो जाए, मिट जाए? अहंकार की अर्थी निकल जाये। अहंकार की चिता सुलग उठे ताकि शुद्ध-चैतन्य में प्रवेश हो सके। सन्त जगत् को अपना गुरु माने, यह महान दृष्टिकोण हुआ। व्यक्ति का अहंकार इतना झुक जाना चाहिए कि एक गृहस्थ जब सन्त को हाथ जोड़ सकता है; सन्त के पांव पड़ सकता है यानी गृहस्थ—जिसे हम 'संसारी' कहते हैं, वह अपना अहंकार इतना झुकाने को तैयार हो गया, तो सन्त को उस गृहस्थ को प्रणाम करने में संकोच क्यों आता है? अगर तुम्हारा अहंकार इतना भी नहीं गिरता है, तो साधुता का अर्थ क्या हुआ?

साधु की साधुता का अर्थ आशीर्वाद के रूप में हाथ ऊपर करने में नहीं है। साधु का अर्थ अपने अहंकार को इतना झुका लेना है कि

सो परम महारस चाखै/६९

जितना गृहस्थ झुकता है, उससे दस गुना अधिक। निश्चित रूप से आनंदघन का अहंकार इतना झुका होगा। तभी इतने गहरे पद का निर्माण हुआ। खुद ही को मिटाओ, तो ही खुदा हाजिर होता है।

गुरु के घर सब जरित जरावा।
चेरे की मढ़िया में छप्पर छावा।।

गुरु का वैभव तो सचमुच अद्भुत है। उसका ज्ञान, तेज, योग—सभी अद्भुत! गुरु के घर में तो रिद्धि-सिद्धि का ऐसा अकूत भंडार भरा है लेकिन चेले के घर में खपर-अधारी यानी केवल भिक्षा-पात्र और वह भी अंधेरे से घिरा हुआ।

गुरु का तो वैभव ही निराला होता है। तभी तो कबीर जैसे सन्त ने कहा, 'अगर मैं सात समुद्रों की स्याही और धरती पर जितनी भी लकड़ियां व वन-राशि है, सब की कलम बना लूं तो भी गुरु की महिमा का, सद्गुरु के महात्म्य का बखान नहीं किया जा सकता।' गुरु के घर में, उनके जीवन में, उनके अन्तर्-हृदय में तो कई-कई रंग के आभूषण सजे हुए हैं। हतभागा तो मैं ही हूँ जिसकी मढ़िया में, जिसकी कुटिया पर केवल घास का एक छप्पर पड़ा है। केवल उसी की छांव है, अज्ञान के घुप्प अंधकार में।

मेरा क्या, कोई माया, मूर्च्छा या सम्मोहन कब आकर घेर ले? चेला, जो महान् पथ पर चल रहा था, उससे फिसल जाएगा। ये सद्गुरु ही हैं, जो मुझे संभाल सकते हैं। सद्गुरु ही हैं, जो मुझे तार सकते हैं, मार्ग-प्रशस्त कर सकते हैं, जीवन के शाश्वत मूल्य प्रदान कर सकते हैं।

गुरु मोहे मारे सबद की लाठी।
चेरे की मति अपराध नी काठी।।

चेले की स्थिति तो केवल अपराध और अज्ञान से घिरी हुई है लेकिन सद्गुरु सबद की ऐसी लाठी मारता है कि आदमी की मति अपने-आप सुधर जाती है। उसका काया-कल्प हो जाता है। शब्द तो वे ही होते हैं, जो शब्द हम लोग बोलते हैं, गुरु भी वही शब्द बोलता

जगत् गुरु मेरा/६२

है पर गुरु के शब्द भीतर से डुबकी खाकर आए हुए होते हैं, गुरु के तो दो-चार शब्द ही काफी हैं।

चंडकौशिक महावीर को डंसता है तो महावीर कहते हैं—बुझ, बुझ, बुझ और चंडकौशिक बोधि पा लेता है। चंडकौशिक, भद्रकौशिक हो जाता है। जिस चंडकौशिक ने पूर्वजन्म में मुनि-वेश स्वीकार किया; फिर भी जो शांत नहीं हो पाया, वही महावीर-सा सद्गुरु पाकर क्षणभर में बदल गया। सद्गुरु की शब्द-लाठी है ही ऐसी।

अंगुलीमाल पर बुद्ध के शब्द की ऐसी लाठी पड़ी कि वह डाकू से भिक्षु बन गया।

एक महान् सन्त हुए हैं—रज्जब। एक दिन रज्जब ने अपने गुरु से कहा कि मैं संन्यास लेना चाहता हूँ। फकीरी लेना चाहता हूँ। गुरु ने कहा— समय आने दो। बात वहीं की वहीं रह गयी।

समय और संयोग बदला। रज्जब की शादी होने लगी। उसकी बारात रवाना हो गई। बारात दुल्हन के द्वार पर पहुंच गई। जैसे ही रज्जब घोड़े से उतरा, वैसे ही गुरु को सामने पाया, गुरु ने फटकारा—

‘रज्जब तैं गज्जब किया,
सिर पर बांधा मौर।
आया था हरि भजन को
करे नरक को ठौर।’

‘रज्जब तूने भी क्या गज्जब किया! तू आया तो था यहां मेरे साथ भजन करने और विवाह रचा रहा है।’ यह दोहा रज्जब पर लाठी का वार कर गया। जैसे पशुओं की चीत्कार सुनकर नैमिनाथ का रथ गिरनार की ओर मुड़ गया, वैसे ही रज्जब की बारात का वह जलसा संन्यास में तब्दील हो गया। मौर उठाकर उसने एक किनारे रख दिया और संन्यासी बन गया। पता नहीं सद्गुरु का कौनसा शब्द कब लाठी का काम कर जाये।

भाग्यशाली हैं वे जिन पर गुरु ने शब्दों की ऐसी लाठी का वार किया, जिन पर गुरु की ऐसी फटकार बरसी कि वे मुड़ गए, बदल

सो परम महारस चाखै/६३

गए, रूपान्तरित हो गए। वे क्या थे, क्या होने जा रहे थे पर गुरु ने ठीक वक्त पर मार्मिक वचनों से दिशा निर्देश किया और वे 'वह' हो गए 'जो' वे होना चाहते थे, 'जो' उन्हें होना चाहिए था। गुरु का यह वार, वार नहीं आशीर्वाद है, उसकी कृपा है, उसके प्यार का उपहार है यह।

हर वह मुमुक्षु जो गुरु की फटकार में छुपे रहस्य को समझ पाता है, उसके गूढ़ार्थ में बसे कल्याणक संदेश को ग्रहण कर पाता है, उसके वचनों के मर्म को आत्मसात कर पाता है, उसकी दिशा ही बदल जाती है। क्षणभर में एक क्रान्ति घटित होती है और उसकी भावधारा बदल जाती है, अन्तर्-दृष्टि जाग्रत हो जाती है। चेतना पहचानती है अपने स्वरूप को और मुड़ जाती है अंतस् के आकाश की ओर, पार्थिव दृष्टि की सीमा में आबद्ध क्षुद्र संसार से परे विराट की ओर। वह अंतस् के अनन्त विस्तार में अहो नृत्य करते आनन्द के अथाह निर्झरों का निनाद सुनती है और उनका अमृत पानकर तृप्त होती है, उसकी युगों-युगों की तृषा आत्मिक अमृत के एक कण से शांत हो जाती है। गहन शांत और मौन। और इस मौन में ही गा उठती है—

राम तजूं मैं गुरु को न बिसारूं,
गुरु के सम हरि को न निहारूं।

आनंदघन कहते हैं—

गुरु के घर का मरम न पावा।
अकथ-कहानी आनंदघन बाबा।।

मेरी सामर्थ्य ही क्या है कि मैं गुरु के घर का मर्म पा सकूं। गुरु का अन्तर्-हृदय कितना गहरा है, इसको मैं नहीं जान सकता। मैं तो सिर्फ इतना ही जानता हूँ, इतना ही समझता हूँ कि गुरु के अन्तर्-जगत में कोई ऐसी आनंद की बदरिया उमड़ रही है, जिसकी कहानी को कोई कह नहीं सकता; जिसकी फुहार में, जिसके रस में वह दिन रात भीगा है।

सुधिजन गुरु के चरणों में न्यौछावर होते हैं। वे वर्षों गुरु की खोज करते रहते हैं और जब एकबार गुरु को पा जाते हैं, तो फिर

जगत् गुरु मेरा/६४

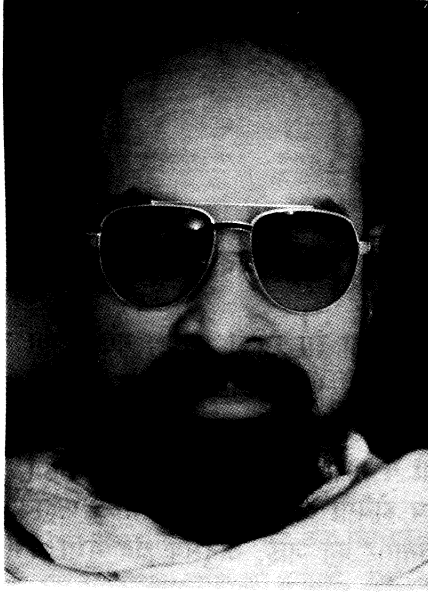
उनके चरणों को छोड़ते नहीं। वे तो प्रतीक्षा करते हैं कि हम पर गुरु की लाठी बरसे, गुरु की फटकार हमें भी मिले और हम भी आत्मबोध पा लें। उनके लिए तो गुरु ही सर्वस्व है—

गुरु की मूरत रहे ध्यान में,
गुरु के चरण बनें पूजन।
गुरु-वाणी ही महामंत्र हो,
गुरु-प्रसाद से प्रभु दर्शन।

मेरे लिए तो बस गुरु की मूरत ही ध्यान में बसे, गुरु के चरण ही मेरे लिए परम-प्रार्थना, परम-आराधना, परम-पूजा बन जाएं। गुरु के वचन, गुरु की वाणी, गुरु का संकेत —मेरे लिए संसार का सबसे बड़ा महामंत्र हो जाए क्योंकि गुरु की कृपा व प्रसाद से अन्तर्-दर्शन सम्भावित है, हरि-दर्शन सम्भावित है। सद्गुरु की कृपा का परिणाम है-स्वयं से साक्षात्कार, भीतर में जन्म-जन्मान्तर से बसे संसार के दलदल से मुक्ति, अन्तर्-मोक्ष।

नमस्कार!





समता का संगीत सुरीला

पद

साधो भाई समता रंग रमीजै, अवधु ममता संग न कीजै ।
संपत्ति नाहीं नाहीं ममता में, रमतां राम समेटै ।
खाट-पाट तजि लाख खटाऊ, अंत खाक में लेटै । ।
धन धरती में गाड़ै बौरे, धूरि आप मुख लावै ।
मूषक सांप होवैगा आखर, तातैं अलच्छि कहावै । ।
समता रतनागर की जाई, अनुभव चंद सुभाई ।
काल-कूट तजि भाव में श्रेणी, आप अमृत ले जाई । ।
लोचन-चरण सहस चतुरानन, इनतें बहुत डराई ।
आनंदघन पुरुषोत्तम नायक, हितकरि कंठ लगाई । ।

समता का संगीत सुरीला/६८

समता का संगीत सुरीला

मेरे प्रिय आत्मन्!

मनुष्य का मन अद्भुत है। संसार की विचित्रताओं में से एक है, अजब पहेली है यह। उलझ जाए तो पहेली, सुलझ जाए तो सहेली। यह मन ही है, जो मनुष्य के लिए स्वर्ग का निर्माण करता है और उसके लिए नरक का मार्ग भी खोलता है। सुख के फूल भी मन खिलाता है और दुःख के कांटे भी मन ही उगाता है। प्रकाश और अंधकार, बंधन और मुक्ति, राग और विराग, सबका आधार-सूत्र मनुष्य का मन ही है।

हवा के जिस झोंके से दीपक बुझता है, उसी से दावानल सुलगता है। आग से भरी जिस मशाल से घरों और जंगलों का अंधकार समाप्त होता है, उसी से बस्तियों में आग भी लगाई जा सकती है। जिस जुबान से गीत गाए जा सकते हैं, उसी जुबान से गालियां भी निकलती हैं। जिस दृष्टि से सौन्दर्य का रसास्वादन किया जा सकता है, वही दुष्कृत्य के लिए उतावली हो उठती है। इन सबके पीछे कोई प्रेरक तत्व है, तो वह मनुष्य का अपना मन है।

सो परम महारस चाखै/६६

मनुष्य का मन शांत हो जाए तो समता घटित हो जाती है, वहीं मनुष्य का मन एक ही मार्ग पर बह जाए तो ममता निर्मित हो जाती है। मनुष्य का मन जब विशृंखलित और विघटित होता है, तो विषमता पैदा होती है। अखंड मन का नाम ममता है और मन के मिट जाने का नाम समता है।

जो मन चंचल, बदहवास और मायूस नजर आता है अगर वही मन लीन हो जाए, मौन हो जाए, मुनित्व के अर्थ स्वयं में धारण करले, तो व्यक्ति के लिए स्वर्ग का निर्माण करेगा। जीवन में उत्सव घटित करेगा और तब मुनित्व की स्थिति में मुक्ति और मोक्ष शब्द मात्र नहीं होंगे अपितु उनका रसास्वादन होगा। मरने के बाद मिलने वाली मुक्ति का कोई अर्थ नहीं है। सारे अर्थ जीते जी हैं। यदि हमारे भीतर अनुभव की कोई किरण नहीं उतरती, जीते जी मुक्ति का रसास्वादन नहीं हो सकता, तो मरने के बाद कोई गुंजाइश नहीं है।

जितना ज्यादा हम मन को विश्राम देंगे, अपने मन को आलसी बनाएंगे, हमारे-भीतर उतनी ही समता घटित होती जाएगी। मन को विश्राम देने का अर्थ यही है कि मन को पूरी तरह से आलसी बना लेना। जिस आलस्य को लोग त्याज्य समझते हैं, जीवन का हननकर्ता मानते हैं वही आलस्य मन के साथ लागू हो जाए, उसमें कोई चंचलता, भटकाऊपन न हो, तो वही आलस्य मन की शांति है। मन की अचंचलता मनुष्य के भीतर मुक्ति की पुष्पांजलि खिला सकती है।

एक सद्गुरु अपने शिष्य के साथ जंगल से गुजर रहे थे। जब वह चलते-चलते थक गए, तो पेड़ की ओट में बैठ गए। गुरु ने कहा, वत्स! प्यास लगी है। पास में ही पानी का झरना बह रहा है। उसमें से तुम पानी ले आओ। शिष्य वहां पहुंचा, तो देखा कि पानी गंदला है क्योंकि उसमें से राहगीर और मवेशी गुजर रहे थे। शिष्य ने वापस आकर गुरु से कहा, प्रभु! पानी तो गंदला है। आप आज्ञा दें तो कुछ ही दूरी पर एक नदी बहती है वहां से पानी ले आऊं। सद्गुरु ने कहा, नहीं! मुझे इसी झरने का पानी पीना है। तुम फिर जाओ।

शिष्य वापस गया तो देखा पानी अभी भी गंदा है। वह खाली हाथ वापस गुरु के पास आ गया। शिष्य ने झरने के गंदे होने की बात कही पर गुरु ने कहा— मुझे उसी झरने का पानी पीना है, तुम वापस

समता का संगीत सुरीला/७०

जाओ! तीसरी बार जब वह वहां पहुंचा तो देखा कि पानी बिलकुल साफ है, मिट्टी नीचे जम गई है। शिष्य पानी भर लाया और गुरु को पानी पिलाया।

मन को शांत और समता को आत्मसात करने के लिए कुछ करना नहीं पड़ता वरन् सिर्फ इन्तजार करना पड़ता है, धीरज रखना पड़ता है। मन के भीतर विकल्प पैदा करने वाले गंदलेपन के नीचे जमने की प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

मन का सरोवर शांत हो जाएगा, यदि साक्षी-भाव जगा लो। मात्र दृष्टा-भाव को अपने में प्रकट कर लो। जिस तरह नदी के किनारे बैठकर नदी के पानी को निहारा जाता है, ठीक ऐसे ही मन में उठने वाले विकल्पों को देखा जाता है। देखना ही काफी है। विकल्पों की सम्प्रेक्षा-विपश्यना करते-करते मन शांत हो जाता है। इसका अनुभव आपने ध्यान में किया कि अगर श्वास की प्रेक्षा करते चले जाओ, अपने विकल्पों की विपश्यना करते चले जाओ, तो जो मन आंधी की तरह भड़कता था, दावानल की भांति सुलगता था, दीये की तरह कज्रल देता था, वही शांत और शून्य हो गया। जरूरत मन को शांत करने की नहीं, जरूरत केवल किनारे बैठकर देखने की है। उठते-बैठते विकल्पों को निहारने की है। उस दृष्टा, उस साक्षी को जगाने की है, जो मनुष्य मात्र के भीतर बैठा हुआ है, भीतर बैठा स्वामी !

भीतर बैठे उस स्वामी को जगाने की जरूरत है, यह दृष्टि को सम्यक् बनाने का उपाय है। देव, गुरु और धर्म के प्रति सिर झुका लेने मात्र से सम्यक्त्व की उपलब्धि नहीं हो पाएगी। श्रावक कहला तो लोके लेकिन श्रावकत्व अर्जित नहीं होगा। श्रावकपने का तिलक सिर पर लगाने में, बातें करने में और सच्चा श्रावक होने में जमीन-आसमान का अंतर है।

व्यक्ति का मन शांत और शून्य हो जाने पर भीतर जिस चैतन्य के जागरण का अनुभव होता है, वही सही अर्थों में अनुभव है। वह एक अलख आनंद है। वह जीवन की एक अपूर्व गहराई है। अपने शांत मन का अनुभव, समाधि का अनुभव है। अपनी केवलता की सम्बोधि ही कैवल्य-दशा है। मैंने अपने मन के सरोवर में उठने वाली तरंगों को एक किनारे बैठ कर देखा है। घंटों नदियों में उठती लहरों

की तरह भीतर की शांति को जिया है। उसके आनंद का रसास्वादन किया है। भीतर के कमल की पंखुरियों से झरने वाले मधु का आस्वादन और आचमन किया है। इसलिए जानता हूँ कि भीतर का आनन्द कैसे घटित हो सकता है।

भीतर का आनन्द घटित करनेके लिए, भीतर में समाई विषमता को मिटाने के लिए आनन्दघन का आनन्ददायी पद है—

साधो भाई समता रंग रमीजै, अवधु ममता संग न कीजै।
संपत्ति नाहीं नाहीं ममता में, रमतां राम समेटै।
खाट-पाट तजि लाख खटाऊ, अंत खाक में लेटै।।
धन धरती में गाड़ै बौरै, धूरि आप मुख लावै।
मूषक सांप होवेगा आखर, तातैं अलच्छि कहावै।।
समता रतनागर की जाई, अनुभव चंद सुभाई।
काल-कूट तजि भाव में श्रेणी, आप अमृत ले जाई।।
लोचन चरण सहस चतुरानन, इनतें बहुत डराई।
आनंदघन पुरुषोत्तम नायक, हितकरि कंठ लगाई।।

बाबा आनन्दघन कहना चाहते हैं उन सभी लोगों से, जो विषमता से उबरना चाहते हैं, कि विषमता का सागर समता से ही पार पाया जा सकता है। समता का रंग ही सच्चा रंग है। कबीर कहते हैं अगर परमात्मा को उपलब्ध करना है, तो वह राम का रंग है। आनंदघन कहते हैं कि आत्मा को उपलब्ध करना है तो समता का रंग है।

जब तक व्यक्ति को समता की चेतना उपलब्ध नहीं होती, तब तक व्यक्ति खेत के बीच खड़ा लकड़ी के भूसे का पुतला मात्र होगा। उसके लिए स्वर्ग नहीं है। जीवन में कदम-दर-कदम अंधकार से जूझना होगा उसे। समता तो जीवन का प्रकाश है, दिव्य अमृत है, सर्वतोभद्र औषधि है। समता, मन के शान्त हो जाने का नाम है। यह आत्मा को ही उपलब्ध हो जाने का पर्याय है। महावीर भी यही कहते हैं कि जो समता को उपलब्ध है, वही व्यक्ति सामायिक में है।

श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं— समत्वम् योग उच्चते। समता ही व्यक्ति के लिए महान योग है। समत्व को ही योग और सामायिक कहा

समता का संगीत सुरीला/७२

है। समता उपलब्ध हो गई, तो जीवन की दिव्यता आत्मसात हो गई। ममता उपलब्ध हुई तो मानवीयता उपलब्ध हो गई और विषमता उपलब्ध हुई तो पशुता उपलब्ध हुई। समता, दिव्यता, ममता, मानवता, विषमता पशुता है।

समता, ममता में रूपांतरित होती है, तो वह सीमित होकर रह जाती है। ममता, समता में रूपान्तरित होती है, तो वह विराट रूप धारण कर लेती है। ठीक इसी तरह जिस तरह पानी का गड्ढे में बंध जाना समता का ममता में रूपांतरण है और सरिता, जो सागर में मिल कर विराट रूप धारण कर लेती है, यह ममता का समता में रूपांतरण है।

ममता को समता में ऐसे रूपांतरित करो कि ममता व्यक्ति को सारे संसार में विराट बना दे, सारे संसार के लिए न्यौछावर कर दे। मदर टेरेसा की ममता मात्र ममता नहीं वरन् ममता का समता में रूपांतरण है, तभी तो वे आज विश्व के लिए विराट बनी हुई हैं। उन्हीं की तरह अपने आप को सारे विश्व की मानवता हेतु न्यौछावर करो ! रूपान्तरित करो!

कलकत्ता में एक बार क्षय रोग बड़े जोरों से फैला। ममता की प्रतिमूर्ति मदर टेरेसा रोगियों की सेवा के लिए कलकत्ता आयीं, तो लोगों ने सोचा कि टेरेसा अपनी सेवा के बदले में उनका धर्म परिवर्तन करवा लेगी। इसी भय के कारण लोगों ने टेरेसा को काफी परेशान किया मगर ममतामयी टेरेसा अपने काम में लगी रहीं।

कलकत्ता के सबसे बड़े काली देवी के मंदिर का पुजारी मदर टेरेसा का बड़ा विरोधी था। संयोग से पुजारी को भी क्षय रोग ने धर दबोचा। मदर टेरेसा तो वहां सेवा के लिए आई थीं; अपने विरोध का दमन करने के लिए नहीं। वे उस पुजारी को अपने सेवा संस्थान 'निर्मल हृदय' में ले आईं। अपनी सेवा से उस पुजारी को नया जीवन प्रदान किया।

पुजारी जब स्वस्थ होकर बाहर आया, तो उसने विरोध करने वाले लोगों से कहा कि मैं जीवन भर इस पत्थर की काली देवी की पूजा करता रहा मगर जीती-जागती काली देवी को देखना है, तो वह मदर टेरेसा है। हमारी ममता इस तरह से विराट रूप ले लेती है कि

सो परम महारस चाखै/७३

सारी मानवता उसकी संविभागी बन जाए। तब तो वह ममता व्यक्ति के लिये समता से भी बढ़कर है अन्यथा एक सकुंचित दायरे तक सीमित रहती है।

व्यक्ति विराटता से वंचित न रहे इसीलिए आनन्दघन सावचेत करते हैं कि साधो भाई समता रंग रंमीजै। दोनों ही परिस्थितियों में तटस्थता। जैसे सामाजिक व्यवस्था के लिए लेनिन ने साम्यवाद की स्थापना की, वैसे ही बाबा समता की स्थापना करना चाहते हैं।

जीवन में यह बहुत स्वाभाविक है कि कब अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियां बनें। परिस्थितियां तो रथ के पहिये के समान होती हैं। पता नहीं कब कौन-सी तूली ऊपर चली जाए और कौन-सी नीचे-आ जाए। जो अभी अनुकूल परिस्थिति लगती है, वही प्रतिकूल बन जाती है और प्रतिकूल अनुकूल बन जाती है।

कवीरा यह जग कुछ नहीं, खिन खारा खिन मीठ।
कालि जो बैठा मंडपै, आज मसाने दीठ।।

फिर किसका गुमान! क्षण में मीठा, क्षण में खट्टा। कल जो रंगमंडप में खुशियां मना रहा था, आज सवेरे उसे श्मशान में चिता पर पड़े पाया। अभी जो सुविधा लग रही थी, वही दुविधा लगने लगी।

समता की आवश्यकता मानव जीवन में इसलिए है कि परिस्थितियां चाहे जैसा अपना रूप बदल लें लेकिन हर हाल में मानव आनन्दित और प्रसन्न रहे। इसीलिए समत्व, योग और सामायिक है। समझदार आदमी के सामने प्रतिकूल परिस्थितियां निर्मित हो जाएंगी, तो भी वह बड़ा मस्त रहेगा और नासमझ व्यक्ति अनुकूल परिस्थितियों के बावजूद भी तनावग्रस्त और संत्रस्त हो जाएगा।

अमीर आदमी किसी गरीब की उपेक्षा करता है, तो यह गरीब की उपेक्षा नहीं, यह अपने आप की उपेक्षा है। नासमझ आदमी पाकर भी रोता है और समझदार आदमी न पाकर भी खुश रहता है। व्यक्ति के जीवन में तो तटस्थता रहनी चाहिये। समता का अर्थ ही तटस्थता है। न तेरा न मेरा। दोनों के मध्य तटस्थता का वातावरण बना रहना चाहिये। तटस्थता में ही शांति है, एकाग्रता है, मुक्ति का रंग है।

समता का संगीत सुरीला/७४

किसी ने दो गालियां दे दी या तारीफ कर दी, तो व्यक्ति को अपनी मस्ती में मस्त रहना चाहिए, कोई फर्क नहीं पड़ना चाहिये। बहुत वर्ष पूर्व एक गांव में एक अविवाहित कन्या गर्भवती हो गई। घर वालों में विवाद की स्थिति उत्पन्न हो गई। यह स्थिति होना स्वाभाविक थी। घर वालों ने कन्या को डांटा-डपटा, मारा-पीटा कि बताओ सच क्या है? यह किसका पाप है तुम्हारे पेट में। लड़की घबराई मगर बाद में न जाने क्या सोचकर उसने कहा कि गांव के बाहर जो संत ठहरे हुए हैं, यह बच्चा उन्हीं का है। घर वालों को बड़ा आश्चर्य और क्रोध हुआ कि संत के ऐसे कृत्य हैं। वे संत के पास गए और जाकर संत को सारा वृतांत सुनाया। संत मुस्कुराए और कहा, ओह, ऐसी बात है क्या? सन्त ने उस कन्या व उसके पेट में पलने वाले बच्चे की जिम्मेदारी अपने सिर ले ली।

वे सब वापस घर आ गए। यह सोचकर कि चलो बला टली। संत से लड़ते-झगड़ते, तो वह कन्या को इस तरह स्वीकार नहीं करता। घर आने के पश्चात् कन्या को बड़ा पश्चाताप हुआ। वह रोने लगी, तो घर वालों ने पूछा— अब क्या परेशानी है। अब तो संत ने तुम्हें स्वीकार कर लिया है। तो वह बोली- सच तो यह है कि यह बच्चा संत का नहीं अपितु पड़ोस के लड़के का है। मैंने उसका कलंक संत के ऊपर लगाया। घर वालों को भी बड़ा दुःख हुआ और संत के पास जाकर क्षमायाचना की। सारा वृतांत सुना डाला। लेकिन इन दोनों ही परिस्थितियों में संत का एक ही वक्तव्य था— ओह ऐसी बात है क्या-तो मामला यह है। अपनी तो दोनों में मौज है। तुम्हीं आरोप लगाने आए और तुम्हीं ने नकार भी दिया। मैं तो वैसा का वैसा रहा। इसी शांति का नाम सामायिक है, समता है।

संपत्ति नहीं नहीं ममता में, रमतां राम समेटै।

खाट-पाट तजि लाख खटाऊ, अंत खाक में लेटै।।

बाबा कहते हैं कि ममत्व में कोई सम्पत्ति नहीं होती। ममत्व मनुष्य की आध्यात्मिक संपदा नहीं है। ममत्व में भीतर का राग बड़ा संकुचित हो जाता है। अब तक मेरा-मेरा करते हुए न जाने कितने राजा-महाराजा हुए लेकिन अपने महल-महराव अंत में सभी कुछ यहीं

सो परम महारस चाखै/७५

छोड़कर खाक में लेट गए। माटी में पैदा हुए और माटी में ही समा गए। मनुष्य का अतीत, वर्तमान और भविष्य सभी राख के ढेर हैं। मनुष्य का भविष्य मात्र एक चिमटी राख जितना है। मनुष्य का उपयोग केवल वर्तमान में है। वर्तमान में जीने और उसकी अनुप्रेक्षा और उपलब्ध करने में है। मृत्यु के बाद केवल कर्म ही कर्ता का अनुगमन करते हैं और कोई नहीं करता है। घर की स्त्रियां दहलीज तक साथ निभा सकती हैं और परिजन श्मशान तक साथ देते हैं। एक कर्म ही व्यक्ति का व्यक्तित्व है, जो मृत्यु के उपरांत भी व्यक्ति का साथ निभाते हैं।

मेरे के भाव से उबरो। सबके भाव को हृदय में लाओ। आत्मभाव हृदयंगम हो जाए। सब समान, अपने-पराये का कैसा भेद! आखिर, सब परमात्म रूप हैं। सब दरवाजे राम-दुवारे हैं।

तट-तट रास रचाता चल, पनघट-पनघट गाता चल।
 प्यासी है हर गागर दृग की, गंगाजल ढुलकाता चल।
 कोई नहीं पराया, सारी धरती एक बसेरा है।
 इस सीमा में पश्चिम है, तो मन का पूरब डेरा है।
 श्वेतवरन या श्यामवरन हो, सुन्दर या कि असुन्दर हो,
 सभी मछलियां एक ताल की, क्या मेरा क्या तेरा है।
 गलियां गांव गुंजाता चल, पथ-पथ फूल बिछाता चल,
 हर दरवाजा राम-दुवारा, सबको शीष झुकाता चल
 तट-तट रास रचाता चल।

हर मुंडेर पर दीप जला दो, हर किनारे पर रास रचा दो, रोशनी जगमगा दो। तुम्हें केवल घर वालों की आंखे दिखाई देती हैं पर धरती केवल घर जितनी ही नहीं है; नजर को और आगे बढ़ाओ। हर आंख प्यासी है। हर आंख में तुम्हारी प्रतीक्षा है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' कुछ ऐसा करो कि सारी धरती तुम्हारा परिवार हो जाये। तुम एक घर की नहीं, घर-घर की यादगार हो जाओ। मुक्त गगन के पंछी!

बाबा कहते हैं कि आज जो हम अपने-आपको इतना महान समझ रहे हैं अंत में तो हमें राख ही होना है, जब हमारा यह शरीर मिट्टी ही है और मिट्टी ही होना है, तो अपनी तुच्छ अमीरी और

समता का संगीत सुरीला/७६

छोटी-सी महानता पर गुमान क्यों? हम धन जमा करते हैं अपने बेटे-पोतों के लिए और यही क्रम पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता जाता है। बाबा चेताते हैं कि मनुष्य अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण ही आने वाले जन्म में सांप, चूहा और दीमक बनता है, उस जमा धन की रक्षा हेतु ही वह बांबी में जन्म ग्रहण करता है।

मैंने पहले भी कहा कि धन साधन है, साधन की सार्थकता तभी है, जब उसका उपयोग हो जाए। संजो कर रखने से कोई फायदा नहीं क्योंकि उसे यहीं छोड़कर चले जाना है। इसी तरह शरीर का उपयोग भी कर लो नहीं तो यह शरीर भी मिट्टी के कच्चे मकान की तरह छिन-छिन खिर रहा है। यह शरीर, यह धन किसी के प्राण बचाने के काम आ जाता है, तो इससे बड़ा, इस तुच्छ धन का सार्थक उपयोग और क्या हो सकेगा?

साधन, साधन है; साध्य नहीं। साधन का जितना उपयोग करोगे साधन आपको उतनी ही सार्थकता और प्रखरता देगा। साधन को जितना कमरे में बन्द रखोगे साधन उतना ही निरर्थक होता जाएगा। जंग चढ़ जाएगी उस पर। चलती का नाम गाड़ी, खड़ी का नाम खटारा। आदमी चलता रहे, कुछ करता रहे, साधन उपयोग में आता रहे। इसीलिए तो बाबा धन को लक्ष्मी नहीं अलक्ष्मी कहते हैं। अगर असली पूंजी पद, प्रतिष्ठा और धन ही है तो धन होने पर भी व्यक्ति अशांत क्यों? पद होने पर भी विक्षिप्त क्यों? पैसे से मिलने वाली प्रतिष्ठा और पद कोई महत्व नहीं रखते क्योंकि पैसा चला जाए तो पद और प्रतिष्ठा, जिसके लिए हमारा सम्मान होता है, हमारे लिए ही कटु व्यंग्य बन जाते हैं। तब पद और प्रतिष्ठा से मोह नहीं वरन् आत्मग्लानि होती है।

व्यक्ति को कभी भी किसी के द्वारा की गई निन्दा और प्रशंसा की परवाह नहीं करना चाहिये। यह तो दुनिया है। गधे पर बैठ कर चलोगे तो भी हंसेगी, गधे को कंधे पर बैठाकर चलोगे तो भी हंसेगी। दुनिया का काम हंसना है। तुम अपने हिसाब से चलो, श्वान भले ही भौंकते रहें, गजराज उसकी कहाँ परवाह करता है।

तुमने दीवारों पर एक नाम पढ़ा होगा— जय गुरुदेव। मथुरा में इनका मठ है। जय गुरुदेव के सारे शिष्य बोरी के कपड़े, टाट के

कपड़े पहनते हैं। अब दुनिया हंसे, तो हंसे। उन्हें उससे क्या? जैनों में दिगम्बर-परम्परा के मुनि नग्न रहते हैं। अब अगर उन्हें नंगा देखकर कोई सकुचाये, तो इससे उन्हें क्या? उन्हें तो कोई संकोच नहीं है। तुम्हें हो, तो तुम बचो।

तुम अपने व्यक्तित्व का मूल्य दुनिया की दृष्टि से आंकते हो या अपने आपकी दृष्टि से? दुनिया की दृष्टि से आंकते हो, तो आनन्दघन तुम्हारे लिये अर्थहीन है। आनन्दघन की दृष्टि से अपने कार्यों का मूल्यांकन करते हो, तो तुम्हें लगेगा कि तुमने जो किया है अच्छा किया है। दुनिया लाख उसे बुरा कह ले मगर तुम्हारे अनुभव की किरण में वह सही है। अपने आप की दृष्टि में अपने मूल्यों की गिरावट नहीं होनी चाहिए। दुनिया की दृष्टि की परवाह नहीं करनी चाहिए।

दुनिया तो भेड़धसान है। एक कुए में गिरा तो बाकी भी उसी का अनुसरण करेंगे। दुनिया में सत्य का नहीं, दिखाऊपन का मूल्य है। यहाँ शृंगार पूजा जाता है, सत्य का सौन्दर्य नहीं। समता का जन्म मनुष्य के अन्तर्-हृदय में होता है। भीतर के क्षीरसागर में समता का विष्णु निवास करता है। हिंदू शास्त्रों की यह बहुत ही प्रसिद्ध कथा है कि जब सागर मंथन हुआ तो चौदह रत्न निकले पर सबसे पहले विष निकला, फिर अमृत निकला। इसी तरह हृदय के सागर में जब अन्तर्-मंथन होता है, तब विष और अमृत दोनों ही निकलते हैं। ऐसा नहीं कि विष का उत्पत्ति स्थान कोई और, और अमृत का कोई और है।

अमृत कोई तरल पदार्थ या वस्तु नहीं है। व्यक्ति के हृदय का संस्कारीकरण ही जीवन का अमृत है और संस्कारित हृदय के विकृत होने का नाम ही विष है। व्यक्ति का हृदय जब क्रोध में रूपांतरित होता है, तो वही जहर बन जाता है, संस्कारित होता है तो अमृत हो जाता है। हृदय के रत्नाकर में समता का जन्म होता है, जिसमें छाया पड़ती है अनुभव के चांद की। खिले हुए, मुस्कुराते हुए चांद की।

जहां अनुभव हो वहीं पर वास्तविक आस्था पैदा होती है, तब अमृत को कहीं से लाना नहीं पड़ता। वह अपने आप भीतर प्रगट हो जाता है। मेरे लिए श्रद्धा का जितना मूल्य है उससे ज्यादा अनुभव का है। अनुभव से कोई बात गुजर गई तो आस्था उसका परिणाम होगा।

समता का संगीत सुरीला/७८

बस, अनुभव की एक किरण उतर आये।

मेरे पास आस्थाओं को लेकर मत आओ, अपनी शंकाओं को लेकर आओ ताकि उन शंकाओं को मैं मिटा सकूँ और समाधान का अनुभव करवा सकूँ। मेरी बात तभी मानिए जब मेरी बात आपके अनुभव में भी उतर जाए। महत्व मेरा और मेरी बात का नहीं, महत्व अनुभव और प्रयोग का है। श्रद्धा के पास जब तक अनुभव की आंख नहीं होती तब तक श्रद्धा अंधी है। श्रद्धा तभी सही श्रद्धा बनेगी जब उसके पास अनुभव, प्रयोग और परिणाम की कोई दिशा होगी।

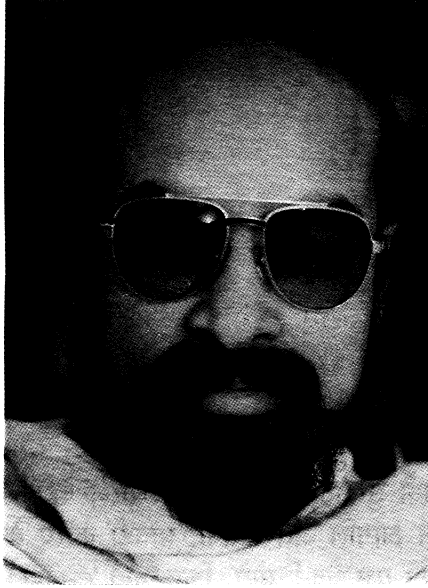
‘आनंदघन पुरुषोत्तम नायक, हितकरि कंठ लगाई’, महान् पुरुषों को अपने गले लगाओ। सद्विचार हमारे चिन्तन में हों और सद्पुरुषों का हमें सान्निध्य हो। कंठ लगाओ, गले लगाओ, अपने आलिंगन में ले लो महान् पुरुषों को, ताकि ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ वाला प्रेम हमें मिल सके। उनका प्रेम हमारे जीवन की प्रेरणा बन जाये।

हृदय की पवित्रता और आत्मा का प्रेम ही आकाश है। एक ऐसा प्रकाश, जहां आभार और आनंद की चंदन-सी बौछारें बरसती हैं। एक ऐसी रंगीली होली, जिसे खेलने के लिए भगवान् विष्णु तक धरती पर चले आते हैं।

बाबा कहते हैं— समता रंग रंगीजै। रंगो समता के रंग में, अपने ही रंग में, पिया के रंग में। बन्द कमरे से बाहर आओ, कोई बुला रहा है रंगों से भीगा, रंगने के लिए, अपने में होने के लिए।

नमस्कार!





संगत सनेही संत की

पद

क्यारें म्हानै मिलसै संत-सनेही ।
संत-सनेही सुरजन पाखै, राखे न धीरज देही । ।
जन-जन आगलि अंतरगतिनी, बातड़ी करिए केही ?
आनंदघन प्रभु वैद-वियोगे, किम जीवै मधुमेही । ।

संगत, सनेही संत की/८२

संगत सनेही संत की

मेरे प्रिय आत्मन्!

किसी प्रिय साधक ने एक भाव-गीत लिख भेजा है—

मेरे मन के अंधतमस् में,
ज्योतिर्मय उतरो ।
कहाँ यहाँ देवों का नंदन,
मलयाचल का अभिनव चंदन ।
मेरे उर के उजड़े वन में,
करुणामय विहरो ।
मेरे मन के अंधतमस् में
ज्योतिर्मय उतरो ।
नहीं कहीं कुछ मुझमें सुंदर,
काजल-सा काला यह अंतर ।
प्राणों के गहरे गह्वर में,
ममतामय विचरो ।
मेरे मन के अंधतमस् में
ज्योतिर्मय उतरो ।

सो परम महारस चाखै/८३

मनुष्य का मन अंधकार से घिरा हुआ गहरा गर्त है। यह शुभ चिह्न है कि अंधकार में प्रकाश की आकांक्षा जगी है, हमारा अन्तर्-मन ज्योतिर्मय होने के लिए तृषातुर हुआ है। प्रकाश है, इसीलिए प्रकाश की आकांक्षा जगती है। अंधकार का बोध जितना जगेगा, प्रकाश की संभावना उतनी ही बढ़ती चली जायेगी। सच तो यह है कि रात जितनी अंधियारी होती है, सुबह उतनी ही प्यारी होती है।

मेरा रंग तुम्हें लगा है, तो यह रंग तुम्हारी चेतना में निखार भी लायेगा। तुम्हारे अन्तर्-मन में जो प्यास जगी है, यह प्यास तो सावन की प्यासी बदली की तरह है, सागर में प्यासी मछली की तरह है, प्रकाश को ढूँढती प्यारी किरण की तरह है। तुम्हारी यह प्यास गले की प्यास नहीं है, यह कंठ से नीचे जगी एक आत्मिक प्यास है। यह सत्य के लिए सत्य हृदय की प्यास है। तुम्हारी प्यास को मेरे प्रणाम हैं। तुम गौण हो, तुम्हारी प्यास ही खास है। सच तो यह है कि तुम्हारी प्यास ही तुम हो। यह प्यास ही तुम्हारी पात्रता है।

‘कहाँ यहाँ देवों का नंदन, मलयाचल का अभिनव चंदन।’

नहीं! ऐसा नहीं है कि कोई देवनंदन या अभिनव चंदन नहीं है। अपनी प्यासी आँखों को भीतर के मलयगिरी की ओर उठाओ, तो तुम्हें मलयाचल के चंदन से भीनी महकती हवाएं खुद-ब-खुद तुम्हारी ओर आती हुई महसूस होंगी। तुम कहते हो ‘कहाँ यहाँ देवों का नंदन?’ तुम ही तो देवनंदन हो, देवपुत्र हो। बगैर देवपुत्र हुए, दिव्यत्व की प्यास नहीं जग सकती। हमारे अन्तर्-लोक में ही मनुष्य का देवलोक है। मनुष्य खुद एक मंदिर है। मनुष्य परमात्मा का मंदिर बने, यह हम सबका लक्ष्य रहना चाहिये। हर चेतन तत्त्व में परमात्मा की जीवंतता और ज्योतिर्मयता है, इसे सदा स्मरण रखना चाहिये। अपने अचेतन लोक में अपना ध्यान धरोगे, तो अचेतन के पार जो चेतन, उसके पार जो अतिचेतन, उसके पार जो सार्वभौम समष्टिगत परा चेतन है उसमें प्रवेश होने पर, उसका अनुभव होने पर, सारी बातें स्पष्ट हो जायेंगी।

‘मेरे उर के उजड़े वन में, करुणामय विहरो।

नहीं कहीं कुछ मुझमें सुंदर, काजल-सा काला यह अंतर।’

भीतर के उपवन की सारसंभाल नहीं हो पा रही है, इसलिए वह

संगत, सनेही संत की/८४

उजड़ा हुआ लगता है। वह उजड़ा हुआ है तो भी हमारे ही कारण और हरा-भरा, लहा-लहा रहा है तो भी हमारे ही कारण। सब कुछ हम पर निर्भर है। वन उजड़ा हो तो भी जमीन तो है ही, बीज भी भीतर के कोने में कहीं दबे पड़े हैं। बस वर्षा की प्रतीक्षा है। वर्षा तभी सार्थक हो सकती है, जब बीज जमीन का साहचर्य ले ले। बीज जमीन में चला जाये। बीज जमीन में दबा हो, तो ही वारिश का, बादलों के छाने का कोई अर्थ है अन्यथा जमीन की सतह पर पड़े बीजों को तो बारिश अपने साथ बहा ले जायेगी। वर्षा को परितृप्ति तब होती है, जब वह बीज में छिपी विराटता को प्रकट कर दे। चेतना के तरुवर को हरा-भरा कर दे।

माना तुम मुक्ति चाहते हो। मुक्ति जीवन से नहीं पानी है, मुक्ति तो अपनी वृत्तियों से पानी है। अन्तर्-मन में उठते अंधड़ से पानी है। मुक्ति तो तुम्हारी चेतना का स्वभाव है। अपने द्वारा जन्म-जन्मान्तर से डाले गये पर्दों को अगर ध्यानपूर्वक उतार फेंको, तो मुक्ति की संभावना अस्तित्व में स्वतः अवतरित हो जाए।

हालांकि हमारा अन्तर्-जगत् चिराग की तरह रोशन है पर यह बोध शुभ है कि मुझमें सौन्दर्य नहीं है, मेरा अन्तर्-हृदय कज्जल-सा काला है। तुम्हारा अस्तित्व तो सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का संवाहक है, स्वामी है। जिसे अपने भीतर की असुन्दरता का बोध हुआ है, अस्तित्व का वास्तविक सौन्दर्य उसी के घर-आंगन में उतरता है। माटी की काया तो बनती है, मिटती है पर इस बनने और बिगड़ने के बीच जो शाश्वतता का दस्तूर है, ज्योतिर्मयता का बीज वहीं है। मैंने भीतर की वह सत्यता, वह शिवता, वह सुन्दरता पहचानी है, उसके आभामंडल को जाना है, इसीलिए तुम्हें आह्वान है, तुम्हारे लिए मेरे हजारों आशीष हैं।

प्राणों के गहरे गह्वर में ममतामय विचरो।

मेरे मन के अन्धतमस् में ज्योतिर्मय उतरो।

इन शब्दों में काफी गहराई है 'प्राणों के गहरे गह्वर में।' भीतर की महागुफा में, प्राणों के प्राण में उतरने का निमन्त्रण है। स्वागत है इस भावना का; विराट को तुम्हारा निमन्त्रण स्वीकार है।

प्रयास यही हो कि हम सबका अन्तर्-रूपान्तरण हो। मानस में

सो परम महारस चाखै/८५

हमारा प्रवेश हो, हम अतिमानस को उपलब्ध करें। मानस, मन से ऊपर उठ जाने की स्थिति है। अन्तर्-मन की पवित्रतम, सुन्दरतम स्थिति का नाम है यह। एक प्रकार से अन्तर्-लोक का यह पर्याय है। रामचरित के साथ मानस को जोड़ने के पीछे यही उद्देश्य है।

अवसर आने पर ही सब कुछ होता है पर आपकी ओर से तैयारी पूरी रहनी चाहिये। परिपक्व समय आने पर ही बीज में से फूल उगते हैं। वक्त पर होना ही ठीक है। बादल चाहे आज बरसे या फिर कभी; हम कम-से-कम अपनी ओर से अपना घड़ा सीधा रखें। जरा सोचो, बदरिया के बरसने का क्या मतलब होगा अगर हम घड़े को उल्टा रखकर बैठे हों। आनंदघन पर मैं इसीलिए बोल रहा हूँ ताकि घड़ा सीधा हो जाये। फिर से कोई चैतन्य हो उठे, फिर से कोई मीरा हो जाये। फिर से सावन की बदरिया झूम उठे। मोर नाचने लगें, फूल खिल-खिल पड़ें। आम की कलियां बौरा उठें। कोयल की तान फूट पड़े। हवाएं महक जायें।

सद्गुरु वह है, जो मनुष्य का कायाकल्प कर दे। वह दृष्टि दे दे, जिससे संसार की आत्मा को देखा जा सके। अपनी आत्मा को तो देखना है ही, संसार की आत्मा भी देखनी है। जिससे सत् मिले, वह सद्गुरु। शेष सारे कुलगुरु। जो बरसे सो बादल, जो समकित दे, वह सद्गुरु। सद्गुरु की यह पहचान है कि वह अपने शिष्यों के जीवन को आत्म-कल्याणक, उत्सव बना दे, आत्मोत्सव में शरीक कर ले, अपने जैसा बना ले। इसीलिए जिओ उनके साथ, जिन्होंने अन्तर् के आकाश में विहार कर जीवन की गहराइयों को जाना है। ऐसे लोगों के पास बैठो, जिनकी संगति से हमारे अंतर्-जगत् में उजाला हो जाए। चलो तो उनके साथ जिन की आत्म-मित्रता से हमारे अंतर्-मन में शांति और आनन्द का निर्झर झर पड़े।

गुरु अपनी ओर से शांति की बीन बजाता है। एक ऐसा दीप-राग छेड़ता है जिससे घट-घट में समाया हुआ प्रकाश अचानक अपने आप उजागर हो जाता है। कहावत है कि परमात्मा के दरबार में देर हो सकती है मगर अंधेर नहीं हो सकती। बात सच है पर यह देरी परमात्मा की ओर से नहीं है। देरी परमात्मा और सद्गुरु की ओर से नहीं, शिष्य की ओर से है। अंधकार हमारे पास है। वहाँ तो उजाला

संगत, सनेही संत की/८६

है। देरी हमारी ओर से है, वहाँ तो हाजिर जवाबी है। इधर हाथ बढ़ा, उधर उसने थामा।

चहुँ ओर मेरे घोर अंधेरा, भूल न जाऊं द्वारा तेरा।
एक बार प्रभु हाथ पकड़ लो, छम-छम नीर बहाऊं मैं।

ऐसा नहीं है कि परमात्मा हाथ नहीं थामता। परमात्मा ने तो अपना हाथ हमारी ओर बढ़ाया ही हुआ है। हम ही अगर परमात्मा की ओर अपने हाथों को नहीं बढ़ाते, तो परमात्मा हमारे हाथों को कैसे थाम पाएगा। सद्गुरु की ओर से तो पूरी तैयारी है, उसकी करुणा की प्याली तो छल-छला रही है, वह तो अपनी ओर से लुटाने के लिये तैयार है मगर लूटने वाले ही कंजूस हैं, तो सद्गुरु क्या करे?

हमारा पात्र जितना विराट होगा, स्वीकार करने का भाव जितना गहरा होगा, उपलब्धि भी उतनी होगी। वह उपलब्धि ही हमें देगी एक आनंदपूर्ण, आह्लादित, परम-धन्यता! अपने हाथ बढ़ाओ, सत्य-हृदय के द्वार खोलो, अपनी अभीप्सा का दीप जलाओ।

देरी हमारी तरफ से है, देने वाले की तरफ से नहीं। अंधकार है, तो हमारे कारण से है, न कि परमात्मा के कारण या सद्गुरु के कारण।

जितने कदम हम गुरु के साथ चलेंगे, उतने ही सार्थक होंगे। जितना गुरु के साथ चला, चांद उतना ही पूर्णिमा की ओर बढ़ा। जितनी देर साथ जिये, उतनी ही शांति का स्नेहभरा स्पर्श मिला। उनके सांनिध्य में बैठो, तो उनका सांनिध्य भी अपने आप में ध्यान को उपलब्ध करवाता है। सद्गुरु का सांनिध्य समाधि के बदरीवन की सैर करवाता है।

लोग तो बहुत कुछ बोल कर भी कुछ नहीं बोल पाते और गुरु कुछ न बोल कर भी बहुत कुछ बोल जाता है। वह भीतर ही भीतर चेतना की तरंग से शिष्य के अन्तर्-जगत् को तरंगायित कर देता है और किसी को खबर भी नहीं लगती। इधर गुरु ने अपने भीतर वीणा झंकार की, उधर शिष्य का अन्तर्-मन वीणा की झंकार के साथ थिरकने लगा। यह सब अपने आप स्वतः ही होता है। जिस तरह सूरज उगता है और कमल खिलने लगता है। बारिश होती है और कलियां संजीवित

सो परम महारस चाखै/८७

होने लगती हैं।

गुरु की सार्थकता मुक्ति के लिये है। अपने अंतर-जगत् को झंकृत करने के लिये है। जितनी देर सद्गुरु के साथ जी सको, उतना ही अपना धन्यभाग समझना, स्वयं को उतना ही कृतपुण्य मानना। गुरु तो औरों को बदलना चाहता है क्योंकि उसने स्वयं बदल कर देखा है। वह दूसरों को जीवन के प्रति इसलिये उत्सुक करना चाहता है क्योंकि उसने जीवन के रहस्यों को खुद जिया है, समझा है, जाना है।

काग पलट गुरु हंसा किन्हीं, दीर्हीं नाम निशानी।
हंसा पहुंचे सुख-सागर में, मुक्ति भरे जहं पानी।।

गुरु तो वह है जो कौए को हंस बना दे। कौआ प्रतीक है हेय का और हंस प्रतीक है श्रेय का। कौआ कलुपता है, हंस उज्वलता है। कौआ विकृति है, हंस संस्कृति है। गुरु तो कायाकल्प करता है; कौआ हंस बन जाए, महान चमत्कार! चंडकौशिक भद्रकौशिक हो जाए, नरक ही स्वर्ग बन जाए, बस, इसी की जरूरत है। सद्गुरु की कृपा से हंस उस सुखसागर में, उस मान-सरोवर में, क्षीरसागर में ब्रह्मविहार करता है, जिसके सामने मुक्ति तो कुछ भी नहीं है। उस आनंद के सामने मुक्ति क्या? मुक्ति तो सहचर की तरह साथ जियेगी।

मेरा विश्वास रूपान्तरण में है। दिल बदल जाये, मन बदल जाये। मन की आंधी थम जाये। अन्तर-जगत् में मरुद्यान लहलहा उठे। मैं सिर्फ रूपान्तरण की कला देना चाहता हूँ। हम कैसे बदल जायें, बस यही मेरी देन है। रूपान्तरण की कला ही मेरी ओर से आपको वसीयत है।

मेरे पास सोने की टकसालें नहीं हैं। हां! पारस जरूर है, जो हमारी पीर मिटाये, जीवन को स्वर्णिम बनाये, फूल खिलाये, कलकल नाद करवाये। मेरे पास तो वे मूल्य हैं, जिससे व्यक्ति अपने मूल्यों को उपलब्ध कर सके। वह पानी है, जिससे हृदय की प्यास बुझ जाए। स्वाति की वह बदरिया है, जिससे चातक आकंठ परितृप्त हो जाये। वह अमृत.....! निश्चित तौर पर वह अमृत मिल सकता है लेकिन तभी उपलब्ध होगा जब हमारे अंतर-कण्ठ में एक गहरी अभीप्सा, गहरी मुमुक्षा, गहरी तड़पन होगी, गहराई होगी। पानी का उतना ही मूल्य

संगत, सनेही संत की/८८

होगा, जितनी गहरी हमारी प्यास होगी। बगैर प्यास के पानी का कोई अर्थ नहीं है। दो कौड़ी भी उसकी कीमत नहीं है। जब तक हमारे अन्तर्-जगत् में शिष्यत्व का अंकुरण नहीं होता; शिष्यत्व से मतलब अपना ईगो नहीं मिटता, ईगो टकराता है, अहंकार झुक नहीं जाता, तो सद्गुरु की ओर से जलाया गया चिराग हमारे लिये कोई अर्थ नहीं रखेगा। रोशनी वापस लौट जायेगी क्योंकि हमारे द्वार-दरवाजे बन्द होंगे। सद्गुरु तो चाहेगा कि वह हमें बदले, हमारा कायाकल्प करे। हमारी आत्म-चेतना का रूपांतरण करे।

एक संत नौका में बैठकर नदी पार कर रहे थे। उस नौका पर कुछ उद्दण्ड युवक भी सवार थे और वे संत के साथ हंसी-ठट्टा, बेहुदी मजाक कर रहे थे। कोई संत पर व्यंग कसता तो कोई संत के मुंह पर पानी फेंकता। संत उनकी करतूतों पर चुप रहे। उनकी नौका के समीप से एक दूसरी नौका गुजरी, जिसमें एक भद्र-पुरुष बैठे थे। उन्होंने देखा कि युवक संत को परेशान कर रहे हैं, तो अपनी नौका को और करीब करवाया और संत से कहा कि ये नवयुवक इतनी उद्दण्डता कर रहे हैं और आप कुछ भी नहीं बोलते? आपकी अनुमति हो, तो मैं इन्हें सबक सिखाने के लिए कुछ करूं?

संत ने मुस्कराते हुए जवाब दिया कि तुम मेरी सहायता के लिए आए, इसके लिए धन्यवाद। लेकिन तुम कुछ करना ही चाहते हो, तो इनकी मानसिकता बदल डालो, ताकि भविष्य में कभी ये किसी और के साथ ऐसा व्यवहार न करें। बदलना ही है तो स्वभाव, विचार और भावों को बदलो। एक स्नेही संत, एक प्यारे सद्गुरु का पहला धर्म व्यक्ति की बुद्धि का कायाकल्प करना है। व्यक्ति के मन का रूपान्तरण करना है। उसकी मानसिकता को बदलना है।

आनन्दधन का जो पद आज लिया जा रहा है, उसकी पृष्ठभूमि यही है कि हमें अपने जीवन में ऐसा गुरु कब मिलेगा, जो कौए को हंस में रूपांतरित कर दे, अपने स्नेह भरे स्पर्श से हमारे अनुभव-जगत् में ज्योति का संचार कर दे, चेतना का विस्तार कर दे।

‘क्यारे म्हानै मिलसै संत-सनेही।

संत सनेही सुरजन पाखै, राखे न धीरज देही।।

सो परम महारस चाखै/८६

जन-जन आगलि अंतर्-गतिनी, बातड़ी करिये केही ।
आनन्दघन प्रभुवैद-वियोगे, किम जीवै मधुमेही । ।

बाबा आनन्दघन कहते हैं कि मेरे जीवन में ऐसा अपूर्व अवसर कब आएगा, जब मुझे कोई स्नेही संत उपलब्ध होगा। किसी वीतरागी का अमृत प्रेम, अमृत स्नेह मुझे मिलेगा। मुझे वह महावीर चाहिये, जो गौतम को अपना अमृत प्रेम, अपना अमृत आशीष दे।

बाबा कहते हैं 'संत सनेही'। एक स्नेही संत। बड़ा सुन्दर शब्द है यह। संत और स्नेह –शायद तुम्हें विरोधाभास लगेगा लेकिन मेरे लिए तो स्नेह संत का दूसरा पर्याय है। जिसके अन्तर्-मन में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना प्रतिष्ठित है, वह स्नेह का फाग खेलेगा। यह तभी सम्भव है जब सन्त में आत्मवत् सर्वभूतेषु –सारी आत्माएं एक समान हैं, ये भाव जग जाएं। सब समान, सबमें प्रभु की सम्पदा, सबमें एक ही ज्योति की सम्भावना।

ऐसा स्नेही संत मिले, जो सभी को आत्मवत् माने, तो ही मेरा कल्याण होगा। अन्यथा गुरु दूसरे को शिष्य बनायेगा। गुरु यानी बड़ा, शिष्य यानी छोटा। नहीं! अन्तर्-जगत् में ईमानदारी रखने वाले के लिए न कोई बड़ा होता है, न छोटा। उसे अस्तित्व के मूल तत्त्व में द्वैत दिखाई ही नहीं देगा। इसीलिए बाबा कहते हैं 'क्यारे म्हाने मिलसै संत-सनेही।' ऐसा संत, ऐसा गुरु कब मिलेगा?

गुरु का अर्थ है— अंधकार दूर करने वाला। 'गु' का अर्थ— अंधकार, गोबर, और 'रु' का अर्थ होता है— दूर करने वाला। अंधकार दूर करने वाला गुरु! गुरु वह है जिसका खुद का चिराग जला हुआ है और दूसरों को अपनी रोशनी देता है। दीपों की प्रभावना करने वाला गुरु! लड्डुओं की, सिक्कों की प्रभावना रखने वाला गुरु नहीं है, वह तो भीड़ इकट्ठी करने में रस रखता है। 'गुरु चेला दोऊ लालची, दोनों खेलें दांव'। यह तो लोभ-लालच हुआ। प्रेरणा हो निर्लोभ की, निस्पृहता की, ज्योतिर्मयता की, सन्मार्ग की।

उपनिषदों में एक बहुत प्यारा सूत्र है 'असतो मां सद्गमय, तमसो मां ज्योतिर्गमय, मृतयोर्मा अमृतंगमय', ले चलो हमें असत् से सत् की ओर, तमस से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर। सत् यानी

संगत, सनेही संत की/६०

जो 'है'। जो नहीं है, वहां से हमें जो है, वहां तक ले चलो ताकि असत् से सत् की ओर हमारे कदम बढ़ सकें। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय'। हमें तमस् से प्रकाश की ओर ले चलो। रोशनी की ओर बढ़ो, अंधकार स्वतः छूट जाएगा। हृदय में अच्छाइयों के गुल खिलाओ, कांटे पीछे छूट जाएंगे। पहल अंधकार मिटाने की नहीं, प्रकाश को उजागर करने की हो। अंधकार का कोई अस्तित्व नहीं होता, प्रकाश के अभाव का नाम ही अंधकार है। जहां प्रकाश नहीं, वहीं अंधकार है। जैसे-जैसे प्रकाश होगा, अंधकार अपना रास्ता नापेगा।

गुरु प्रकाश है, गुरु आंख है। आंख है, तभी प्रकाश है तभी अंधकार है। अंधकार को पहचानना है, तो इसके लिये भी आंख चाहिये। ऐसा नहीं कि अंधे के लिये प्रकाश नहीं वरन् अंधकार भी नहीं है। अंधकार हो या प्रकाश, दोनों की पहचान के लिए आंख चाहिये। आंख के भीतर की आंख! चाहे प्रकाश हो या अंधकार, जान हो या अजान, सत् हो या असत्, चित् हो या अचित्, हर चीज के लिये आंख चाहिये, दृष्टि चाहिए। सद्गुरु से हमें आंख मिलेगी। प्रकाश से संवाद करने की भाषा मिलेगी। भीतर की आंख कैसे खुले, वह मार्ग उपलब्ध होगा।

आनन्दघन कहते हैं— क्यांरे म्हाँनै मिलसै संत-सनेही। संत तो बहुत मिलते हैं मगर बाबा कहते हैं— स्नेही संत कब मिलेंगे। ऐसा संत नहीं मिलता। अपना कल्याण करने वाले संत तो हजारों-हजार हुए लेकिन जो हमारा कल्याण कर दे, हमें रूपान्तरित कर डाले, हमारे मन की खटपट को शान्त कर दे, ऐसे स्नेही संत कम मिलते हैं। सिद्ध तो बहुतेरे हुए लेकिन तीर्थंकर कम ही हुए। तीर्थंकर होना यानी स्नेही संत होना है। सिद्ध वे हैं जिन्होंने अपना कल्याण किया और निर्वाण को उपलब्ध हुए। स्नेही वह है जो अपना कल्याण करते हुए औरों के प्रति करुणा रखे। जो अपने उद्धार के साथ-साथ औरों का भी उद्धार करे। अपने आत्म-अनुभव के प्रकाश से दूसरों को भी लाभान्वित करे। जो दूसरों को आलोकित होने का आह्वान करता है, वही स्नेही संत है।

यह हर किसी की किस्मत में नहीं होता कि संत से प्रेम करे। जिसके प्राणों में पावनता का गंगाजल छलका, उसी के अन्तर्-हृदय में संत के लिये प्रेम जग सकता है। संत से प्रेम! लोगों ने प्रेम का सिर्फ

एक ही अर्थ समझा है— काम, वासना, सैक्स। काम तो प्रेम की विकृति है और प्रेम काम का संस्कार है। प्रेम जब काम बन जाता है तो यह प्रेम का अधोपतन है। तब प्रेम क्षणिक स्वर्ग है। एक ऐसा स्वर्ग, जिसका परिणाम नरक है। एक ऐसा नरक, जिसका रास्ता स्वर्ग से आता है। प्रेम तो स्वर्ग है। निष्काम प्रेम से बढ़कर जीवन का न कोई रस है, न फूल है, न स्वर्ग है। प्रेम का काम में रूपान्तरण नरक है। काम का प्रेम में रूपान्तरण स्वर्ग है। प्रेम और काम में उतना ही फर्क है, जितना कीचड़ और कमल के बीच होता है। काम नीचे की तरफ बहता है और प्रेम ऊपर की तरफ। काम कीचड़ में धंसता है। प्रेम कमल की तरह खिलता है।

प्रेम अपनी ओर से देना है, काम मांगना है। प्रेम दान है, काम याचना है। कामुक दूसरों से सुख चाहता है। प्रेम में दूसरों का महत्व नहीं होता। वह तो सदा छलछलाया हुआ रहता है—बादल की तरह, बरगद की तरह। बादल का स्वभाव बरसना है, बरगद का काम छांह लुटाना है। कोई पानी ले या न ले, कोई छांह में बैठे या न बैठे, बादल तो बरसेगा, बरगद तो छांह बरसाएगा। संत का प्रेम, सद्गुरु का स्नेह तो झरने की तरह है, वह तो वहेगा, झरेगा। कल-कल नाद करेगा। तुम नहाओ, तुम्हारी मौज; सकुचाओ, तुम्हारी मौज। मित्र बनाओ, तुम्हारी मौज; दुश्मन समझो, तुम्हारी मौज। संत तो प्रेम रूप है, प्रेम का पर्याय है। संत प्रेम का गलत अर्थ ले बैठता है, तो संतत्व का इससे बड़ा संहर्ता और कोई नहीं। प्रेम डुबोता भी है, प्रेम तारता भी है। प्रेम वही जो पार लगाए। मेरा प्रेम सब तक पहुंचे, अनन्त रूप में, अनन्त वेश में।

बाबा कहते हैं, मुझे चाहिये स्नेही संत। संत तो बाबा खुद हैं। और ऐसा नहीं कि उनके पास संतों की कमी है। बड़े-बड़े आचार्य, संत उनसे मिलते थे पर सबमें अपना-अपना अहंकार। मैत्री के स्वर तो किसी के हृदय से सुनाई ही नहीं देते। किसी की आँखों में हृदय का सम्मान नहीं है। बस, आये, मिले, गये। वही बारातियों वाला सिद्धान्त—खाओ और खिसको। स्नेही चाहिये, प्रेमी चाहिये—जो एक प्राण हो जाये! जो अस्तित्व का सहचर हो जाये! जो अन्तर्बोधि का गवाह बन जाए।

संगत, सनेही संत की/६२

संत सनेही सुरजन पाखै, राखे न धीरज देही।

आखिर, सनेही संत ही तो भीतर में हो रहे चैतन्य-सृजन को देख-समझ सकता है। आम लोगों को, संसारियों को कहने का कोई मतलब नहीं है; उनमें धैर्य तो होता नहीं। ढिंढोरा पीट बैठे। चेतना की पीड़ा, चेतना के अनुभव, चेतना की गहराई उसे ही कही जा सकती है, जो खुद उस गहराई में जीने का दमखम रखता है। पीड़ा तो आखिर पीड़ा ही है, चाहे वह तन की हो या मन की अथवा जन्म-जन्मान्तर से कर्म संस्कारों के बोझ को ढोये चली आ रही चेतना की हो। तन की पीड़ा मिटाने के लिए चिकित्सक हैं; मन की पीड़ा को बंटाने के लिए मित्र हैं और चेतना की पीड़ा को शान्त करने के लिए सद्गुरु हैं, संत हैं।

मैत्री तो हृदय की ही प्यास का नाम है। मैत्री के फूल तो सदा खिले हुए रहने चाहिये। संत होने का अर्थ यह नहीं है कि हम संसार के दुश्मन हो जायें, संसार से टूट जायें। नहीं! मुनित्व तो संसार से ऊपर उठने का नाम है। आखिर संत बनकर भी तुम जीते तो संसार में ही हो। पहनावा बदल जरूर जाता है, पर रहता तो है ही। भोजन करने के वक्त पर पाबंदी आ जाती है पर भोजन तो करना ही पड़ता है, व्यवस्था और जुगाड़ भी बैठानी पड़ती है। नाम बदल जाते हैं, ठांव बदल जाते हैं पर फिर भी नाम तो रहता ही है। संत होने से कोई गुमनाम तो हो नहीं जाते। घर छोड़ दिया तो क्या हुआ आश्रम बना लिया, आश्रय, स्थानक बना लिया। खाना-पीना, ओढ़ना-बिछाना यानी आवश्यकताएं और उनकी पूर्ति तो जारी ही रहती है।

संत होने का अर्थ हुआ मन का शान्त होना, मन का यातायात थम जाना। मानसिक उठापटक, ऊहापोह का शान्त हो जाना। प्रेम और मैत्री आध्यात्मिक जीवन को रसपूर्ण बना देते हैं। धर्म और अध्यात्म में से प्रेम और मैत्री को बाहर निकाल दो, तो धर्म और अध्यात्म, नीरस और वेस्वाद हो जाएंगे। प्रेम आध्यात्मिक होकर, अध्यात्म के उजड़े वन को भी हरा-भरा कर देता है। मैत्री संत के साथ जुड़कर एकाकीपन को उत्सव और उल्लास से भर देती है। मैत्री में निश्छलता और प्रेम में पावनता हो, तो दुनिया में उससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं है।

सो परम महारस चाखै/६३

बाबा कहते हैं, 'जन-जन आगलि, अन्तरगतिनी, बातड़ी करिये केही।' आध्यात्मिक जीवन में मानस-मित्र की जरूरत पड़ती है ताकि अन्तर्-जगत् की गति और प्रगति की बातें उससे की जा सकें। अन्तर्-जगत् के संवाद स्थापित किये जा सकें। आम लोगों को कहने से कोई मतलब नहीं निकलता उल्टे लोग हँसी उड़ायेंगे, पागल समझेंगे। लोगों को पागल कहते देर भी नहीं लगती, मीरा तक को पागल कह डाला। पागल मीरा नहीं थी, पागल तो लोग थे, जिन्होंने अपने पागलपन में उसके पागलपन को न समझा और नतीजा यह निकला कि उन शम्भुलालों ने जीसस को क्रॉस का इनाम दिया, सुकरात को जहर से पुरस्कृत किया, मंसूर के हाथ-पाँव काट डाले, गांधी को स्वतंत्रता के सम्मान में गोलियाँ दीं।

जीवन के साधना-मार्ग में आत्म-मित्र ही सहायक बनते हैं। मुझे पता है कि साधना-मार्ग में भी मित्र की आवश्यकता पड़ती है लेकिन वह मित्र कैसा हो, यही खास बात है। ऐरे-गैरे काम नहीं देते। जितनी साधना में गहराई होती है, इस तरह के मित्र में उतनी ही गहराई होती है। मेरे देखे तो सद्गुरु के बाद अगर किसी की जरूरत पड़ती है, तो वह है मित्र, आत्ममित्र।

आनंदघन प्रभु वैद वियोगे, किम जीवे मधुमेही।

बाबा भीगी आँखों से कह रहे हैं— मधुमेह रोग से पीड़ित व्यक्ति बगैर योग्य चिकित्सक के कैसे स्वस्थ हो सकता है। सद्गुरु वैद्यराज हैं। एक मधुमेह तो तन का होता है और एक मधुमेह जीव के मन का होता है। तन के मधुमेह को ठिकाने लगाने के लिए दुनिया में डॉक्टर भरे पड़े हैं लेकिन संसार के रस का जो मधुमेह मनुष्य को लगा है, जन्म-जन्मान्तर के संवेगों का जो मधुमेह सता रहा है, उसके लिए तो दुनिया में एक ही प्रभु है और वह है सद्गुरु।

संसार का रस तो पिघला हुआ शीशा है, काया का रस तो पानी का उबाल भर है। संसार के रस में लगे हुए मन को अन्तर्-यात्रा के लिए लौटाना जीवन का प्राथमिक मगर महान रूपान्तरण है, गहरी आत्मक्रांति है। सद्गुरु वही है जो यह क्रांति मचा दे। जो भीतर के जन्म-जन्मान्तर के कचरे को, अकूड़ी को राख करने की आग सुलगा दे,

संगत, सनेही संत की/६४

वही मनुष्य का कर्णधार है।

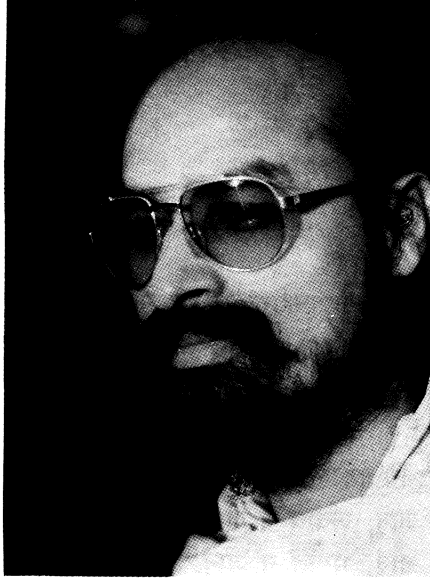
नदियां भी बहुत हैं, नावें भी बहुत हैं। कदम-कदम पर किनारे हैं पर हमारा किनारा कौनसा है, हमारी मंजिल का मार्ग कौनसा है, आज का पद मात्र इसके लिए माझी की पुकार है। साधक को एक साथी का इंतजार है, जो दे उसे स्नेह का स्पर्श, जिससे कुछ बातें हो सकें, जो भीतर की महागुफा में, छिया-छी खेला करे, कुछ ऐसा कि.....यानी भीतर के अहोभाव में रसलीन हो सके।

प्राणों के गहरे गह्वर में
करुणामय विहरो।
मेरे मन के अन्धतमस् में
ज्योर्तिमय उतरो।

मन के घुप्प अंधकार में ज्योर्तिमय को आह्वान! आत्म-जागरण की पहचान है यह। बढ़े चलो!

नमस्कार!





फूलों पर थिरकती किरणें

पद

अवधू क्या मांगूं गुनहीना, वे तो गुनगन गगन प्रवीना ।
गाई न जानूं, बजाई न जानूं, न जानूं सुर-भेवा ।
रीझ न जानूं, रिझाई न जानूं, ना जानूं पर-सेवा । ।
वेद न जानूं, कतेव न जानूं, जानूं न लक्षण-छन्दा ।
तरकवाद-विवाद न जानूं, ना जानूं कवि-फन्दा । ।
जाप न जानूं, जवाब न जानूं ना जानूं कथ-वाता ।
भाव न जानूं, भगति न जानूं, जानूं न सीरा-ताता । ।
ज्ञान न जानूं, विज्ञान न जानूं, ना जानूं भजनामा ।
आनंदघन प्रभु के घरि द्वारै, रटन करूं गुण-धामा । ।

फूलों पर थिरकती किरणें/६८

फूलों पर थिरकती किरणें

मेरे प्रिय आत्मन्!

जीवन दुर्गम पगडंडी की तरह टेढ़ा-मेढ़ा है, राजमार्ग की तरह सीधा-सपाट नहीं है। बहुत गहरा है। अन्तर्-बोध का शुक्रगुजार हूँ, जिसने जीवन के कई रहस्यों को दिखाया पर देख रहा हूँ कि जीवन को अभी और देखना, समझना है।

हम गहरे उतर सकें, तो अपने भीतर के शून्य में एक विराट होता हुआ नूर दिखाई देगा। अपने आंगन में आकाश उतरता हुआ नजर आएगा। आसमान से तृप्ति की एक बूंद गिरेगी, मानो बूंद में सागर ही उमड़ आया हो। फूल तो खिलेगा ही, फूलों पर किरणें मानो पायजेब पहने हुए थिरकती लगेंगी। वह नाचती-झूमती किरण कब सूरज बन जाए, कब सूरज तक पहुंचाए, नहीं कहा जा सकता पर किरण की डोर ही सूरज तक पहुंचाती है।

सम्भव है, आज तुम्हारा जीवन घटाटोप अंधकार में हो पर प्रकाश है। अंधकार का बोध हो जाये, हृदय में प्रकाश की पिपासा जग जाये, तो ये कदम अंधकार से बाहर आ सकते हैं। जीवन के फूल पर

सो परम महारस चाखै/६६

किरणें नूर बरसा सकती हैं। सौरभ लुटा सकती हैं।

रिमझिम-रिमझिम बरसे नूरा,
नूर जहूर सदा भरपूरा।

एक बात ध्यान रखो –न अंधकार सदा से रहा है, न प्रकाश कभी विलुप्त हुआ है। अंधकार और प्रकाश दोनों ही सदा से रहे हैं। प्रकाश की यात्रा, सत्य की खोज की यात्रा है। अंधकार जीवन में जब-जब भी घनीभूत हुआ, तब-तब मनुष्य के अंतर-मन में आलोक की आकांक्षा उत्पन्न हुई।

प्रकाश की उपलब्धि निश्चित तौर पर महनीय उपलब्धि है पर प्रकाश की आकांक्षा का जन्म लेना भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। प्रकाश तो नम्बर दो है, अंधकार का बोध होना यात्रा का मंगलाचरण है। प्रकाश पाना, प्रकाश से भर जाना महान सौभाग्य की बात है पर यह तब होगा जब यात्रा प्रारम्भ होगी। यात्रा प्रारम्भ न हुई, तो मंजिल कहां से मिलेगी?

अंधकार का अहसास होना, अज्ञान का बोध होना आलोक की खोज की तैयारी है। अंधकार का अहसास हो, तो प्रकाश की यात्रा की सम्भावना है। भूख हो, तो ही भोजन का कोई अर्थ है। प्यास हो, तो ही पानी का मूल्य है। भूख के बगैर भोजन और बगैर प्यास के पानी, अपना कितना अर्थ रखेंगे?

भोजन का मूल्य भूख में है। मिठास भोजन में नहीं, भूख में है। भूख मीठी हो, तो भोजन भी मीठा-रसीला लगेगा। भूखे को सूखी रोटी भी मेवा जैसी है। भूख न हो, तो मेवा-मिठाई के थाल सामने रख दो, आदमी मुंह फेर लेगा। प्यास हो, तो सरोवर की तलाश खुद-ब-खुद होगी। सरोवर की महिमा मनुष्य की प्यास से है। प्यास पानी का मूल्य है। प्यास ही पानी पर पानी चढ़ाती है।

अपने अज्ञान के अंधकार का बोध होना जीवन के लिए शुभ चिह्न है। अंधकार का होना खतरनाक है, अभिशाप है, अंधकार का होना दम घुटना है पर अंधकार का अस्तित्व है। मैं अंधकार से घिरा हूँ, मुझे अंधकार से बाहर निकलना चाहिए, अंधकार से निकलने का

फूलों पर थिरकती किरणें/१००

मार्ग क्या है, अंधकार से बाहर होने पर प्रकाश का क्या अनुभव है, मन में ऐसे सवाल उठना शुभ संकेत है। यही तो वे सवाल हैं, यही तो वह जिज्ञासा है, यही तो वह कौतुहल है, जिसकी मुंडेर पर प्रकाश के दीये जलेंगे। इन्हीं डंडों पर मशालें जलेंगी। इन्हीं प्रश्नों से समाधान के सूत्र जन्मेंगे। यह शुभ है। जिनके मन में ऐसा बोध जगा है, अंधकार का बोध, अज्ञान का ज्ञान जगा है, धन्यभाग! वे रूपान्तरण की पहली सीढ़ी चढ़ चुके। वे बदलना शुरू हुए। आलोक की पहली किरण उनके अनुभव में उतरी।

जीवन का विकास, चेतनागत विकास ज्ञान से होता है पर उस ज्ञान से नहीं, जिसे शब्दों और सूचनाओं के रूप में, जानकारियों के रूप में मन में संग्रहित करते हैं। जिसे आप ज्ञान कहते हैं, वह वास्तव में ज्ञान नहीं, अपने जन्म-जन्म के अज्ञान को आवृत्त करने का आधार मात्र है। उससे अज्ञान दिखाई नहीं देगा। तुम पंडित हो जाओगे, औरों के साथ शास्त्रार्थ करोगे, तर्क करोगे, तर्क में दूसरे को पछाड़ने में रस लोगे पर इससे अज्ञान नहीं मिटेगा। ज्ञान की बातें होंगी, अज्ञान भीतर दबा रहेगा। वह अज्ञान वक्त-वे-वक्त तुम्हें कचोटेंगा। अज्ञान तुम्हें सालेगा। सच तो यह है कि ज्ञानी को जितना उसका अपना अज्ञान का अंधकार कचोटता और सालता है, उतना वाद-विवाद में मिलने वाली पराजय तकलीफ नहीं देती।

मनुष्य का अज्ञान गहरा है। भीतर की धरती को खोदो, तो पता चलेगा कि अज्ञान किस पाताल तक फैला है। बाह्य ज्ञान स्वीकार्य है। ज्ञान स्वीकार करो पर अपने अज्ञान को पहचानने के लिए। जब भी कोई वास्तव में ज्ञानी होगा, ज्ञान उसके भीतर क्रांति घटित करेगा। बाहर का ज्ञान भीतर के अज्ञान को जगायेगा। जीवन में यह एक महान घटना समझना, एक शुभ घटना कि ज्ञान ने अज्ञान को जगाया। ज्ञान ने अज्ञान को पहचाना।

अज्ञान का बोध ठीक वैसा ही है जैसे अंधकार का बोध। अज्ञान के बोध से ज्ञान की शुरुआत है और अंधकार के बोध से आलोक की। दोनों से बाहर निकलना है। अपने आभामंडल को प्रकट करना है।

अज्ञान अंधकार है, अंधकार अज्ञान है। अज्ञान से बाहर आना

सो परम महारस चाखै/१०१

अंधकार से बाहर आना है। अज्ञान से जूझना अंधकार से जूझना है लेकिन जूझने से जीत नहीं होती। जूझकर न तो अज्ञान को भगाया जा सकता है, न अंधकार को। आखिर अंधकार से कैसे जूझोगे, किसे भगाओगे? अंधकार है, तो उसे अंधकार रूप जानो। अज्ञान है, तो उसे अज्ञान रूप जानो। अज्ञान के अंधकार को समझो और धैर्यपूर्वक, बड़े प्यार से, बड़ी सहजता से ज्ञान के प्रकाश की खोज करो। खोज भी क्या करनी है, बस अपने भीतर जाग कर धैर्य से प्रतीक्षा करते चले जाओ। अचानक एक दिन, किसी भी क्षण चमत्कार होगा। प्रकाश तुम्हें ऐसे ही नहला देगा, जैसे अब तक अंधकार से घिरे रहे थे। तुम तो बस अज्ञान के अंधकार को पहचानो और धैर्यपूर्वक निरन्तर सतत् अपने में जागरूक, अपने में मस्त होकर स्वयं में टिके रहो, प्रज्ञा की खिड़की स्वतः खुलेगी। किरण पूरे अंधकार को चीर डालेगी। किरण ही वह माध्यम होगी, वह आधार होगी, जिससे सूरज तक, प्रकाश-पुंज तक, ज्ञान-पुंज तक, आनंद राशि तक पहुंचा जा सकेगा।

एथेन्स की एक प्रसिद्ध घटना है। एथेन्स के नागरिकों ने देवी की आराधना की; यह जानने के लिए कि इस समय हमारे देश में सबसे बड़ा ज्ञानी कौन है, वह कौन है जिससे हम अपने सवाल करें। जो हमें हमारी समस्याओं के समाधान दे। पहाड़ों की देवी ने, मंदिर की देवी ने कहा— सुकरात। सारी भीड़ सुकरात के पास पहुंची और देवी का वचन सुनाया। सुकरात ने कहा, देवी को समझने में शायद कहीं चूक हुई है। मैं ज्ञानी नहीं हूँ। हां, यदि दो वर्ष पहले तुम मुझ तक आते, तो मैं देवी के वचन का समर्थन करता पर जब से मैंने अपने भीतर प्रवेश किया और अपने अज्ञान को पहचाना, तब से मैं स्वयं को ज्ञानी नहीं मानता। तुम पुनः देवीके पास जाओ और किसी और नाम की पूछताछ करो।

लोगों ने ऐसा ही किया। देवा ने कहा— सुकरात इसीलिए सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी है क्योंकि उसने अपने अज्ञान को पहचान लिया है। कल तक उसमें पांडित्य था, अब ज्ञान है। कल तक उसे जानकारियां थीं, आज सम्बोधि है। उसका 'मैं' मिट चुका है। उसकी रूह सूरज हो चुकी है।

इतना नेक आदमी मिलना मुश्किल है, जो संबुद्ध होने के बावजूद

फलों पर थिरकती किरणें/१०२

यह मानता है कि मैं जानता नहीं हूँ। अपने आपको नहीं जानता। दुनिया की नजरों में गुणी होकर भी जो यह पहचानता है कि वास्तव में मुझमें कौन-कौन से दुर्गुण हैं। इतना भला आदमी कहाँ, जो यह स्वीकार करे कि मैं बुरा हूँ।

जो यह सोचते हैं कि वे सब कुछ जानते हैं, वे मुझ तक आने का कष्ट न करें। जब जानते हो, तो मुझ तक आने की तकलीफ ही क्यों? जिस दिन यह अहसास हो जाए कि मैं नहीं जानता, निपट अज्ञानी हूँ, तो ही आइयेगा। घने अंधकार में ही दीप जलाने का आनंद आता है। ज्योति तभी सार्थक होती है। जलते दीपों के बीच, चार और दीये जलाकर रख दो, तो पता ही नहीं चलेगा कि कोई दीया जला है।

ऐसा वे ही लोग करते हैं, जो ऋजु प्राज्ञ हैं, निर्मल हृदय हैं, सरल चित्त हैं। तर्कवादी ऐसा नहीं कर सकेंगे। पंडित ऐसा नहीं कर सकेंगे। वे ऐसा करने की कोई चेष्टा भी करेंगे, तो जरूर उसमें उनकी खोपड़ी की ही कोई-न-कोई चाल होगी। तार्किक बड़ा चतुर होता है। व्यक्ति सरल हृदय बने, सरल चित्त हो। व्यक्ति जितना सरल चित्त होगा, ज्ञान की, प्रकाश की, आनंद की, मुक्ति की, उसके लिए उतनी ही संभावना होगी। वह निर्मल आकाश में उतनी ही ऊंची उड़ान भर सकेगा।

सरल हृदय तो स्वयं तीर्थ है। वह खुद ही मंदिर है, वह तो बस यों समझो मानो निर्गुणिया संत है। कोई गुण नहीं, बस यही सबसे बड़ा गुण। गुण सारे परमात्मा के, वह तो निर्गुण। परमात्मा की किरण उसी में उतरती है। ऐसी कली ही फूल बनती है। कली का धन्यभाग! अगर वह फूल बनी। मुझे ऐसी कलियों से प्यार है, जिनमें फूल होने की आकांक्षा जग गयी। वह भूख जग गई जो भोजन की तलाश को जन्म दे दे। वह प्यास की लौ सुलग उठी, जो सरोवर की तलाश शुरू करवा दे।

कली फूल बन सकती है। बोध हो कली होने का, प्रयास हो फूल बनने का, खिलने का, परिपूर्ण होने का। कली तो बस लगातार सूरज की ओर झांकती रहे, सूरज को निहारती रहे। सूरज के चरणों में अपना शीष धर दे, जो होना होगा, हो जाएगा। अस्तित्व को, जिस

तरीके से खिलना होगा, खिला देगा। अस्तित्व निरंतर अमृत की वर्षा कर रहा है। तुम्हीं आनाकानी करते हो। लहरें अगर पार लगाने को खुद तैयार हों, तो हम पतवारों की सरपच्ची क्यों करें? हम सागर के बीच हैं, मझधार में। पता नहीं किनारा किधर है, किस दिशा में हैं, तो पतवारों को एक तरफ पटको। लहरें जिधर जा रही हैं, जिधर ले जा रही हैं, वहीं किनारा है।

आनंदघन का पद है—

अवधू क्या मांगूं गुणहीना, वे ते. उगन गगन प्रवीना।
 गाई न जानूं, बजाई न जानूं, ना जानूं सुर-भेवा।
 रीझ न जानूं, रिझाई न जानूं, ना जानूं पर-सेवा।।
 वेद न जानूं, कतेब न जानूं, जानूं न लक्षण-छन्दा।
 तरकवाद-विवाद न जानूं, ना जानूं कवि-फन्दा।।
 जाप न जानूं, जवाब न जानूं, ना जानूं कथ-वाता।
 भाव न जानूं, भगति न जानूं, जानूं न सीरा-ताता।।
 ज्ञान न जानूं, विज्ञान न जानूं, ना जानूं भजनामा।
 आनंदघन प्रभु के घरिद्वारै, रटन करूं गुण-धामा।।

एक गुणहीन गुणों के अनंत आकाश से क्या मांगे! कुछ तो अपने में भी हो कि किसी से कुछ मांगा जाए, तो उसे पाकर हम प्राप्त को सार्थक कर सकें। मैं गुणहीन, औंधा पात्र। अस्तित्व ने कुछ बरसा भी दिया, तो औंधे पात्र में क्या जाएगा?

कुछ तो पात्रता हो। पात्रता ही नहीं है, तो अपात्र में कुछ भी देने से दिया हुआ बेकार ही जाएगा। पात्र हो, सत्पात्र, तब तो टिकेगा। पात्रता और अपात्रता तो दूर की बात है, बाबा तो कहते हैं, पात्र ही नहीं है, तो क्या मांगूं? क्यों मांगूं? मुझे गुण-अवगुण का कोई पता ही नहीं है। मैं तो बस उसमें डूबा हूँ। मैंने तो बस उसके नाम का, उसके रस का दीप जला रखा है ताकि वह आए, तो उसे मेरे जीवन का पथ अंधकार से घिरा न मिले।

मदिर-मदिर मेरे दीपक जल,
 प्रियतम का पथ आलोकित कर।

फूलों पर थिरकती किरणें/१०४

हे मेरे अंतर के दीप! निरंतर जलते रहो, निरंतर जगे रहो, प्रियतम के पथ को आलोकित करते रहो। 'विहंस-विहंस मेरे दीपक जल।' हंसते-खिलते जलते रहो। जल-जलकर ही मैंने ज्योति को जिया है और अब जल-जलकर ही ज्योति को उपलब्ध होना है। अब तो जिस दिन बुझना होगा, वह मृत्यु नहीं, निर्वाण होगा। जलने का बुझना होगा, ज्योति का उपलब्ध होना होगा।

रसो वै सः—मेरा प्रिय तो रसरूप है। मैं रस भीगा हूँ, रस डूबा हूँ, प्रभु के प्रेम में रंगा हूँ। ऐसे रंग में कि धोबी के धोए भी न उतरे। ऐसा रस, ऐसा रंग कि दुनिया इस रंग को कुछ भी कहे, दुनिया तो पागल कहेगी ही, दीवाना कहेगी ही, मुझे कोई परवाह नहीं, मैं तो डूबा हूँ उसके रंग में। तब भले ही कोई इसे पायल का बजना कहे पर मेरा प्रिय जानता है यह मीरा के घुंघरुओं की थिरकन है। तब दुनिया के लिए होगा यह शराब का प्याला, जहर का प्याला। जिसे पीकर मर जाना चाहिये था, उसे पीकर तो मीरा उलटी दीवानी हो गई क्योंकि अब कोई जाम, जाम नहीं है; जहर, जहर नहीं है, सब कुछ मेरे प्रियतम का, मेरे गिरधर गोपाल का चरणामृत हो चुका है। अब कोई पत्नी, पत्नी नहीं है। हर पत्नी पर वेद की ऋचाएं लिखी हैं। अब चिड़ियों की चहचहाहट भी कुरान की आयतें गाती हैं। झरने का बहना, बहना नहीं लगता, पानी की हिलोरों से, झोंको से आने वाली शीतल समीर पाकर ऐसे लगता है मानो हरि ही मुझ पर पंख खे रहा है। 'हरि मेरा सुमिरन करे'।

'गाई न जानूं बजाई न जानूं, ना जानूं सुर-भेवा—यह मत समझ बैठना कि मैं गायकी में सिद्धहस्त हूँ। संगीत का, सुरों का, सुरों के भेदोपभेदों का ज्ञाता हूँ। मुझे सुरों के भेदों का पता ही नहीं है कि कौन-सा सुर मध्यम है और कौन-सा पंचम। न ऋषभ का ज्ञान है, न षड्ज का और न ही गांधार या निषाद का। 'रीझ न जानूं रिझाई न जानूं, ना जानूं पर-सेवा' न रीझना आता है, न रिझाना। आकर्षण के कौन-से तरीके हो सकते हैं, मुझे कोई पता नहीं है। बस मैं तो खुद ही खिंच गया हूँ। अब तो जैसी प्रभु की मर्जी। वह अगर खिंचा चला आता है, तो उसकी मौज। मैं तो बस केवट हूँ। नैया हूँ, खेवैया हूँ, जन्म-जन्म से इसी तट पर हूँ, लोगों को खे रहा हूँ। प्रतीक्षा रही है हर बार उस राम की जो मुझमें, मेरे हृदय में रमण कर रहा है।

सो परम महारस चाखै/१०५

कभी-न-कभी तो वह आएगा ही, और यह नैया, यह खेवैया कृतार्थ होंगे।

मैं तो सुदामा हूँ। न तो मेरे पास भगवान को चढ़ाने के लिए बदाम और श्रीफल हैं और न ही सोने-चांदी के आभूषण। मेरे पास तो बस पल्लु में बांधे, प्यार से बांधे, खुद भूखे ही रास्ता तय कर तुम्हारे लिए लाये, ये सस्ते-हल्के चावल के सत्तू हैं। भगवान तो मेरे मित्र हैं। मैं भगवान का जन्म-जन्म का दोस्त, ये सत्तू खा लो, स्वीकार कर लो, तो दोस्ती निभ जाए। मेरी तमन्ना पूरी हो जाये।

मैं.....मैं तो बूढ़ी शबरी हूँ। मेरे बाग में तो बस बेर उगे हैं। प्रभु! तुम्हें क्या चढ़ाऊँ, ये बेर हैं मेरे पास। बेर ही मेरी कुटिया की सम्पदा है। स्वीकार करो प्रभु! मेरा तो धन्यभाग! प्रभु की कितनी कृपा कि खुद बेर खाने शबरी के घर-आंगन पधारे। पर बेर, मैं जानती हूँ ये खट्टे भी निकलते हैं। मैं प्रभु तुम्हें खिलाऊँगी जरूर पर पहले खुद चखकर फिर तुम्हारे चरणों में चढ़ाऊँगी। कहीं बेर खट्टे निकल गये तो! मेरे घर प्रभु पधारे और बेर खिलाऊँ खट्टे। ये जूठे बेर हैं प्रभु, शबरी के बेर!

आनंदघन कहते हैं कि मैं गाना-बजाना, रीझना-रिझाना कुछ नहीं जानता। तुम्हारे चरणों की सेवा कैसे की जाए मैं यह भी नहीं जानता। मैं विधि-मुक्त हूँ। मेरे पास कोई विधि नहीं है। मैं ही मेरी विधि हूँ। जो जी चाहा, सो किया। मैंने तो बस, शीघ्र अपने प्रिय के चरणों में धर दिया है और उसी की महक में डूब गया हूँ। इसीलिए पार लग गया। जो डूब गया सो पार लग गया। जो डूबने से बच गया, वह सौ फीसदी डूब गया।

‘वेद न जानूँ कतेव न जानूँ, जानूँ न लक्षण छन्दा।’ मुझे न तो वेद-पुराणों का ज्ञान है और न ही कुरआन का। काव्य के लक्षण और छन्दों का भी मुझे पता नहीं है। कोई पंडित हो, तो वह जाने। तर्कवाद, वाद-विवाद के मकड़जाल से मैं पूरा मुक्त हूँ। कवियों की तुकबंदी से भी दूर हूँ। मैं तो स्वयं काव्य हूँ। छन्द और तुकबन्दी के नियमों से मुझे लेन-देन नहीं है। अनुभव में जो आये, भीतर में डूबकर जो भी शब्द बाहर आ जायें, मेरे लिए तो वही ठीक है। तुकबंदी किसी फन्दे से कम नहीं है। मेरे लिए तो कोई फंदा नहीं है, जिसमें

फूलों पर थिरकती किरणें/१०६

बाबा फंस सके।

जाप-जवाब –सब शब्दों की ही व्यवस्था है। मुझसे यह आशा मत रखना कि मैं कोई सही जवाब दूंगा। जो जी में आया, मेरे लिए तो वही जवाब। कहते हैं कि बाबा के पास कोई रानी पहुँची। उसका पति उससे नाखुश था। रानी ने बाबा से कहा— कुछ ऐसा करो, कोई ऐसा ताबीज बना दो, जिससे सम्राट मुझसे मिले-जुले। बाबा हंसे। एक कागज पर कुछ लिख दिया। संयोग की बात, राजा-रानी से बोलने-मिलने लगा। रानी ने इसे बाबा का चमत्कार माना। रानी ने राजा को वह ताबीज भी दिखाया, जो बाबा से उसे मिला था। राजा ने ताबीज खोला, पर्चा पढ़ा, गजब! ताबीज में लिखा था राजा-रानी दोनों मिले, तो इससे आनंदघन को क्या लेन-देन।

‘जाप न जानूं जवाब न जानूं’ आनंदघन कहते हैं मुझसे यह उम्मीद मत करना कि तुम्हें खुश करने वाला, जी-हजुरी करने वाला जवाब मिलेगा। मुझे प्रवचन देने का भी न्यौता मत देना। मैं कोई प्रवचनकार नहीं हूँ। मैं तो अनुभव का अध्येता हूँ। जैसा अनुभव किया है, वैसा सुनना-समझना चाहते हो, तो मेरी तुमसे बात बन जाएगी।

‘भाव न जानूं भगति न जानूं, जानूं न सीरा-ताता।’ भाव और भक्ति, ठंडा और गर्म इसकी सुध मुझे नहीं है। मुझे कोई भक्त कवि मत समझना। किसी को ठंडा या गर्म कैसा करना, इसका मुझे पता नहीं है।

मैं वैज्ञानिक भी नहीं हूँ। विज्ञान तो बहुत बड़ी बात है, मुझे ज्ञान भी नहीं है। ज्ञान ही नहीं तो विज्ञान कैसे, ज्ञान का प्रकर्ष कैसे? मेरे भजन कोई भजनामा लिखना नहीं हैं। यह कोई पंचनामा नहीं है मैंने तो लिखना-पढ़ना, गाना-बजाना, बोलना-बतलाना सब छोड़ दिया है। अब करने का कोई भाव ही नहीं है। प्रभु जैसा चाहे, करे। लहरें भाव को जिधर ले जाना चाहें, ले जाएं। मैंने तो ‘आनन्दघन प्रभु के घरिद्वारै, रटन करूँ गुणधामा’—अपना सिर अपने प्रियतम के चरणों में अर्पित कर दिया है। ‘चरणम् शरणम्’—चरणों की शरण हूँ। मैं तो बस अपने सिर को परमात्मा के चरणों में रखकर दिन-रात उसी का ध्यान और स्मरण कर रहा हूँ। मेरी ओर से अब न कोई क्रिया है, न प्रतिक्रिया। जो कुछ है सो सब उसका।

सो परम महारस चाखै/१०७

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागे है मेरा।।

अब ऐसा कुछ नहीं, जिसे मैं मेरा कह सकूँ। अब न मैं हूँ, न मेरा है। अब जो मैं हूँ, वह तू ही है, जो तू है, वही मैं हूँ। अगर मैंने अपना सिर भी तुम्हारे चरणों में रखा है, तो वह भी मेरा समझकर नहीं वरन् तुम्हारा समझकर ही रखा है। 'तेरा तुझको सौंपते, क्या लागे है मेरा'। मैं तो बस अब तुम्हारे मंदिर का श्रीफल हूँ। जैसा तू चलाना चाहे, चला। जैसा घटित करना चाहे, घटित कर। मैं गुणहीन, सारी प्रशंसा तुम्हारी, बदनामी होगी तो भी तुम्हारी।

कहते हैं कृष्ण ने भोजन का पहला कौर मुंह में रखा ही था और उसे बीच में ही छोड़ कर दौड़े। रुक्मणी ने कहा, 'प्रभु! अचानक क्या हो गया आपको? क्या भोजन में कोई कमी है?'

प्रभु ने कहा, 'मेरे एक भक्त पर भीड़ द्वारा पत्थर मारे जा रहे हैं और वह मेरा नाम लेकर पत्थर खा रहा है।'

अभी वे दरवाजे को पार भी नहीं कर पाये थे कि वापस लौट आये। रुक्मणी ने कहा, 'अब क्या हुआ? 'भक्त को बचाए बगैर वापस कैसे लौट आये?'

कृष्ण ने कहा, 'अब जाने की जरूरत नहीं है। अब भक्त ने खुद ही पत्थर उठा लिये हैं।'

यह उदाहरण समर्पण की परीक्षा है। समर्पण कितना पूर्ण है, कितना गहरा है, इसकी कसौटी है। यदि तुम अपने विश्वास पर दृढ़ रहे, परमात्म शक्ति में, होनी के कर्तृत्व में तुम्हारी आस्था अडिग रही, तो परमात्मा हर जगह, हर समय, हजारों-हजार हाथों से तुम्हारी मदद के लिए तैयार खड़ा है लेकिन अगर तुम कर्ता के अहंकार से मुक्त न हो सके, तो इसका अर्थ है तुम्हारा समर्पण केवल शाब्दिक है, आडंबर है। तुम्हारा विश्वास केवल दिखावा है, प्रपंच है।

वह प्रपंचों में नहीं उलझता। वह तो तुम्हारे समर्पण की सच्चाई को परखता है। तुम उसके नाम पर पत्थर खाते रहो, यह तो महज एक कसौटी भर है। अन्ततः वह तुम्हें बचा लेता है, जब पानी सिर के ऊपर तक आने लगता है। उसकी कृपा उन्हीं के लिए है, जिनमें कर्तृत्व

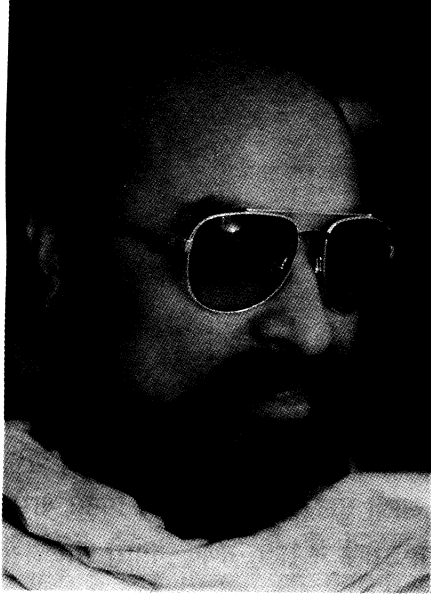
फूलों पर थिरकती किरणें/१०८

का अहंकार नहीं है। उसके साक्षात्कार का बस एक ही मार्ग है—
समर्पण, सर्वस्व समर्पण.....अहोभावपूर्ण समर्पण.....यदि कर सको तो
तुम 'तुम' नहीं रहोगे, तुम 'वह' हो जाओगे। 'वह' यानी जो 'है'।

नमस्कार!



सो परम महारस चाखै/१०६



प्रिया बिन शूरुं

पद

पिया बिन निसदिन झूरूं खरी री ।
लहुड़ी बड़ी की कानि मिटाई, द्वार ते आँखें कबहूं न टरी री ।
पट-भूषण तन भौकन उठै, भावै न चोकी जराव जरी री । ।
सिव-कमला आली सुख न उपावत, कौन गिनत नारी उमरी री ।
सास, विसास, उसास न राखै, नणद निगोरी भौरे लरी री । ।
और तबीब न तपति बुझावै, आनंदघन पीयूष झरी री । ।

पिया बिन झूरूं/११२

पिया बिन शूरुं. . . .

मेरे प्रिय आत्मन्!

बाबा आनंदघन के अध्यात्म-पदों के माध्यम से हमने जीवन, जगत् और अध्यात्म के कुछ बिन्दुओं को समझने का प्रयास किया। विगत सात दिनों से हम आनंदघन के आनन्द में डूब रहे हैं, अध्यात्म के अमृत का रसास्वादन कर रहे हैं। बाबा की यात्रा में अभी तक कुल तीन पड़ाव आए हैं। पहला मुक्ति की कामना का था। दूसरा पड़ाव सद्गुरु की कृपा का और तीसरा पड़ाव परमात्मा के प्रेम में अपने-आपको डुबाना।

अन्तर्-हृदय में मुक्ति की अभीप्सा हो, तो ही सद्गुरु की खोज होती है। जितनी गहरी अभीप्सा होगी, सद्गुरु की कृपा उतनी ही उपलब्ध होगी। सद्गुरु की कृपा और प्रसाद जितना हमें अहोभाव के साथ उपलब्ध होगा, परमात्मा के साथ हमारे हृदय का उतना ही सम्बन्ध हो पायेगा।

अध्यात्म के मार्ग पर वे ही लोग उत्सुक हों, जिनके अन्तर्-हृदय में मुक्ति की तड़प जगी है, जिनके अन्तर्-मन में परमात्मा की, अस्तित्व

सो परम महारस चाखै/११३

को उपलब्ध करने की, अन्तस् के आकाश में मौन उड़ान भरने की उत्कंठा जगी है, ध्यान और अध्यात्म का मार्ग उन्हीं को निहाल कर पाएगा।

अभीप्सा ही न हो, तो सद्गुरु को खोजेगा कौन? सद्गुरु को सद्गुरु के रूप में समझेगा कौन? सद्गुरु के चरणों में अपनी सत्ता को समर्पित कौन करेगा? फिर तो बस, संत मिल गये, चलते-चलते धोक लगा दी और चलते बने। बादल का बरसना, तभी तो सार्थक होगा, जब चातक के चित्त में जल-बूंद को पाने की हूक हो।

अध्यात्म का पहला चरण है— मुक्ति की महत्वाकांक्षा। दूसरा चरण है— मुक्ति के मार्ग पर आरूढ़ होने के लिए सद्गुरु का स्नेह-सहयोग, सद्गुरु का कृपा-प्रसाद। तीसरा चरण, आखिरी पड़ाव है— रसमयता, डुबकी, खुमारी, निमग्नता, अहोसमर्पण, अहोप्रतीक्षा। फिर तो मंजिल है, अमृत वर्षण है, अन्तस् के आकाश में मुक्त-उन्मुक्त विहार है। अब जब अभीप्सा जगी है, तो आगे की यात्रा भी होगी।

कबीर के जीवन की एक प्यारी-सी घटना है। कबीर के मन में मुक्ति की एक गहरी तड़प, अभीप्सा थी। उसी अभीप्सा के कारण वे सद्गुरु को ढूँढते रहे। जाति का जुलाहा, कौन आदमी कबीर को अपना शिष्य बनाए। भले ही एकलव्य अपने बलवूते पर महान धनुर्धर हो गया पर उसे शिष्य रूप में न तो कृपाचार्य ने और न ही द्रोणाचार्य ने स्वीकार किया। वह जाति का ब्राह्मण या क्षत्रिय नहीं था। जो स्थिति एकलव्य की थी, वही स्थिति कबीर की थी। अब कबीर को आत्मज्ञान या नाम-दान कौन करे? समय का दुष्प्रभाव। अगर वे सीधे गुरु के पास जाकर कहते कि मुझे शिष्य बना लें, तो कोई तैयार होता? कबीर गंगा के तट पर बनी सीढ़ियों पर जाकर सो गए क्योंकि बगैर सद्गुरु के चरणों की रज मिले शिष्य का निस्तार नहीं होता। सद्गुरु की चरण-रज पाने के लिए ही कबीर आधी रात को जाकर सीढ़ियों पर सो गए। उन्हें आशा थी कि महान् ज्ञानी रामानन्द इसी राह से नदी स्नान के लिए गुजरेंगे। रात्रि का अंधकार ! रामानंद को सीढ़ियों पर कोई भी व्यक्ति आज तक सोया हुआ नहीं मिला था। रामानंद सीढ़ियों की ओर बढ़े और गंगा में डुबकी लगाने के लिए जैसे ही पांव बढ़ाया, वे चौंके।

पिया बिन झूं/११४

उनका पांव किसी व्यक्ति पर पड़ चुका था। पांव लगते ही रामानंद जोर से कह उठे— राम! राम!! कबीर खड़े हो गए और कहा, प्रभु! गुस्ताखी माफ करें पर मैं धन्य हुआ, मुझे गुरु-मंत्र मिल गया। आज से आप मेरे गुरु! तब से कबीर राम-नाम सुमरते रहे और जीवन भर उसी के होकर रह गए।

गुरु, गुरु-कृपा या गुरु के मुख से गुरु-मंत्र मिल जाए, तो परमात्मा के मार्ग का रास्ता खुल जाता है। प्राणवत्ता स्वयं को फूंकनी पड़ती है, प्राण-प्रतिष्ठा स्वयं को करनी पड़ती है। 'सद्गुरु' जिनका चिराग जल चुका है, जिनकी अन्तर्-आंखों में परमात्मा का तट है, उनके मुंह से निकला एक शब्द भी एक अभिषु/मुमुक्षु/जिज्ञासु शिष्य के लिए तो महामंत्र हो जाता है, वेदवाक्य बन जाता है।

गुरु की मूरत रहे ध्यान में,
गुरु के चरण बनें पूजन।
गुरुवाणी ही महामंत्र हो,
गुरु-प्रसाद से प्रभु-दर्शन।

मेरे मनमन्दिर में सदैव गुरु की मूरत रहे। मेरी सारी आराधना मेरे गुरु के चरण बन जाएं। गुरु की हर वाणी, हर शब्द, हर संकेत मेरे लिए बड़े से बड़ा महामंत्र हो जाए क्योंकि बगैर गुरु की कृपा के न तो परमात्म दर्शन है, न आत्म-साक्षात्कार है।

मुक्ति की कामना से यात्रा प्रारंभ होती है और सद्गुरु की कृपा से यात्रा आगे बढ़ती है। जब तक मुक्ति की कामना न हो तब तक यात्रा प्रारंभ ही नहीं होगी। इसीलिए बाबा आनंदघन के जो पद हैं, उनकी शुरुआत मुक्ति की कामना से हुई है। सद्गुरु की कृपा से यह यात्रा कदम-दर-कदम आगे बढ़ रही है और अपने प्रियतम से मिलन ही बाबा आनंदघन का सबसे बड़ा लक्ष्य, सबसे बड़ी आराधना, सबसे बड़ी पूजा बन चुका है। बाबा के अन्तर्-मन में अपने प्रियतम के लिए एक गहरी कसक, एक गहरी मनोव्यथा है। बाबा जैसे योगी और गुफावास करने वाले के मन में भी ऐसी खुमारी! वीणा की ऐसी झंकार!

पिया बिन निस दिन झूरूं खरी री।

सो परम महारस चाखै/११५

लहुड़ी बड़ी की कानि मिटाई,
 द्वार ते आँखें कवहूँ न टरी री । ।
 पट-भूषण तन भौकन उठै,
 भावै न चोकी जराव जरी री ।
 सिव कमला आली सुख न उपावत,
 कौन गिनत नारी उमरी री । ।
 सास, विसास, उसास न राखै,
 नणद निगोरी भौरे लरी री ।
 और तबीब न तपति बुझावै,
 आनंदघन पीयूष झरी री । ।

बाबा की आत्मा कहती है— मुझमें तो दिन-रात एक ही रट लगी हुई है— पिया-पिया। रात-दिन खड़ी-खड़ी झूरती रहती हूँ। कव उसका दीदार हो। आंखों की खिड़की पर खड़ी रहती हूँ, एकटक पथ पर नजर गड़ाए रहती हूँ। चातक-सी रटन लगी है— प्रिय, प्रिय! हे प्रभु! तुम्हारी प्रतीक्षा में आंखों में अहर्निश आंसू हैं।

परमात्मा की प्यास है ही ऐसी कि ज्यों-ज्यों तृप्त होती है त्यों-त्यों बढ़ती जाती है। पड़ाव ज्यों-ज्यों पार होते हैं, मंजिल को पाने के लिए मन उतना ही उतावला हो जाता है। कबीर भी ऐसे ही झूरा करते। नानक की आंखों से ऐसे ही आंसू ढुलका करते। सूर की आंखों में ऐसे ही प्रियतम का नूर बरसा करता। परमात्मा के प्रति जगी इस तड़पन के कारण ही मीरा राजमहल की रानी की बजाय परम-प्रेम की दीवानी कहलाई। यह मार्ग ही ऐसा है। यह तो सावन की प्यासी बदली है। इस पीड़ा में भी एक अनेरा आनन्द, एक आह्लाद, परम-धन्यता का पुरस्कार रहता है।

पीड़ा भी सखि! दिया करती,
 मधुरिम सुहाग की सुख-वेला ।
 तुम बाट जोहती जिस मग पर,
 वह मग तो दुर्गम का गम है ।
 तुम सिसकाया करती मन में,
 वह सिसक नहीं, चिर सरगम है ।

पिया विन झूरुं/११६

औरों का कर्दम धोने को,
उसने भी कितनों को झेला।
पीड़ा भी सखि! दिया करती,
मधुरिम सुहाग की सुख-वेला!

परमात्मा के मार्ग पर जिन्होंने कदम बढ़ाए हैं, उनके लिए परमात्मा को उपलब्ध होने के तीन विकल्प हैं। पहला विकल्प है—समर्पण। आदमी परमात्मा के आनंद में, उसके अहोभाव में अपनी स्वतन्त्रता को वैसे ही मिटा दे, जैसे बूंद सागर में विसर्जित हो जाती है, जैसे बीज माटी में समा जाता है, जैसे नमक पानी में घुल जाता है। उसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता। उसे तो परमात्मा में मिल जाना होता है।

अपना न सुख है, न दुख। जो कुछ मिलता है, वह सब उसी का प्रसाद। वेदना में भी उसी का भाव। आनन्द को तो हर कोई उसकी कृपा मान लेगा पर पीड़ा भी परमात्मा की कृपा हो सकती है, यह बात गले नहीं उतरेगी। पर जब अपना सब कुछ उसको सौंप दिया, जब अन्तर्-मन में उसी को विराजमान कर दिया, जब डाल-डाल और पात-पात में उसी का नूर मान लिया, तो पीड़ा में उसको क्यों न जिया जाये। पीड़ा में भी परमात्मा का अहोभाव! जहर का प्याला भी उसका ही प्रसाद! फांसी का फंदा भी उसी की ओर से फूलों का हार! तब एक चमत्कार होता है। लोगों को दिखने में वह फांसी का फंदा दिखता है पर परमात्मा का प्रेमी उसमें कुछ और ही देख जाएगा। वह कुछ और ही पा जाएगा। वह इतना अभिभूत हो उठेगा मानो राजुल को नेमि मिले हैं, राधा को श्याम मिले हैं।

तो पहला विकल्प है— मिटने का, खुदी को मिटाने का।

दूसरा विकल्प है— व्यक्ति स्वयं परमात्मा होने के लिए कृतसंकल्प हो जाए कि मैं स्वयं ही परमात्मा—परम+आत्मा बनूंगा। 'अप्पा सो परमप्पा।' मेरा आत्मा ही मेरा परमात्मा होगा। किसी के भी चरणों में झुकना नहीं होगा। अन्तर्-दृष्टि ही उसकी एकमात्र चरण-शरण होगी। वह अन्तर्-बोध और अन्तर्-जागरूकता से जिएगा। भीतर के आकाश में भीतर की भगवत्ता का रसास्वादन करना पसन्द करेगा। वह अपने

सो परम महारस चाखै/११७

जन्म-जन्मान्तर के कर्मों से जूझेगा। यह जूझना ही अन्ततः उसे आत्म-विजेता बनाता है। यह वह मार्ग है जिस पर चलकर कोई महावीर 'जिन' बनता है, कोई गौतम 'बुद्ध' बनता है। कोई पतंजलि 'प्रज्ञा' को उपलब्ध होता है।

विकल्प दोनों हैं, मार्ग दोनों हैं पर मंजिल पर पहुंचने पर दोनों 'दो' नहीं रहते। परमात्मा दोनों मार्गों का परिणाम है। एक में दूध पर मलाई का आना है, एक में दूध को जमाकर मक्खन निकालना है पर घी दोनों से ही बन जाएगा। एक में अनायास सब कुछ होता है, दूसरे में कोशिशें कामयाब होती हैं।

चैतन्य, सूर, तुलसी, मीरा, रामकृष्ण, रसखान –ये परमात्मा के पहले मार्ग के पथिक हैं। महावीर, बुद्ध, पतंजलि –ये परमात्मा के दूसरे मार्ग के पथिक हैं। इनके लिए परमात्मा आत्मा का विकास है। इनके लिए स्वयं का, स्वयं की स्वतन्त्रता का मूल्य है। ये स्वयं में ही अपने परमात्मा को देखते हैं।

रामकृष्ण परमहंस या चैतन्य महाप्रभु जैसे लोगों के लिए परमात्मा का पहला मार्ग है। उनके लिए अपना कोई निजी अस्तित्व, मैं भाव या अहंकार नहीं। बूंद ने अपना अस्तित्व मिटा लिया। बूंद सागर हो गई। जब तक बूंद स्वयं को बूंद बनाए रखना चाहेगी, तब तक वह सागर नहीं हो पाएगी। बूंद को सागर होना है, तो उसको मिटना पड़ेगा। यदि सर्वकार को उपलब्ध करना है, तो ममकार से मुक्त होना पड़ेगा। जब तक किसी के भीतर अपना अहंकार जीवित रहता है, तब तक परमात्मा के साथ उसका संबंध नहीं बैठता। जहाँ 'मेरा' टूटता है, वहीं आत्मा प्रकट होती है और जहाँ 'मैं' गिरता है, वहीं परमात्मा से साक्षात्कार होता है।

मार्ग चाहे मिटने का हो या जगने का, अहंकार दोनों मार्ग में बाधक है, अवरोधक है। मैं का भाव तो महज मनुष्य की एक पागल सनक है। और सनक! बड़ी अजीब वस्तु है यह। कब किसको चढ़ जाये, पता ही नहीं चलता। ईगो का दूसरा रूप है यह। छुरी है यह। खुद को भी काटती है और औरों को भी। सनक की भांग का नशा उतर जाना चाहिये। अहंकार मिट जाना चाहिये। अहंकार पहला और अन्तिम अवरोधक है। काया के भाव से ऊपर उठें, मुक्ति की भावना

गहरी हो, अन्तर्-बोध जगे, तो ही अहंकार, मैं का भाव तिरोहित हो सकता है। अंधकार में रोशनी की कोई किरण उतर सकती है।

जब तक मेरे का भाव है, तब तक आत्मा से भी दूर होंगे। 'मेरा' तो संसार है, सम्बन्ध है—जब यह भाव विसर्जित होता है, तब आत्मा प्रकट होती है। जब 'मेरे' का, 'मैं' का भाव भी विसर्जित हो जाता है, तब परमात्मा का प्रकाश, जीवन का एक गहरा आनंद, उसकी गहरी अनुभूति और परम-धन्यता प्रकट होती है।

रामकृष्ण जैसा व्यक्ति मिलना दुर्लभ है। वे हर धर्म में जिए, हर धर्म को समझने के लिए उसमें प्रविष्ट हुए। उनके जीवन की एक घटना है। रामकृष्ण कभी राधा संप्रदाय में भी दीक्षित हुए थे। राधा संप्रदाय का यह उसूल है कि व्यक्ति स्वयं को राधा माने और कृष्ण को परमात्मा माने। रामकृष्ण ने स्वयं को इतना राधामय बना लिया कि उनमें राधा का भाव उत्पन्न हो गया। बड़े विस्मय की बात है कि पुरुष होते हुए भी उनमें स्त्रैण-भाव पनप गया। स्त्री मानने पर तुम में अगर स्त्री का भाव सघन होता चला गया तब तुम्हारे सामने से कोई पुरुष गुजरेगा, तो तुम सोचोगे कि मेरा घूँघट कहाँ है?

प्रयोग करना चाहो तो प्रयोग करके देख लो। तुम अपनी कुर्सी पर बैठ जाओ और कल्पना करो कि मैं टहलने के लिए निकल गया हूँ। आप मन ही मन चलते चले जा रहे हैं और देख रहे हैं कि कोई झरना आ गया है। झरने में कल-कल का नाद हो रहा है। पानी के छींटे उछल रहे हैं। सचमुच तुम्हें लगेगा जैसे छींटे तुम्हें भिगो चुके हैं। इतना आनंद मिलेगा, जितना झरने के पास से गुजरने पर मिलता है। इसी तरह दस मिनट तक दौड़ने की कल्पना करो। कुछ देर बाद तुम्हें लगेगा कि सांस उतनी तेज चलने लगी है, जितनी दौड़ने पर चला करती है।

हाल ही में एक सज्जन मेरी बगल में सोये थे। मैं जब मध्य-रात्रि में जगा, तो मैंने देखा कि उनकी सांसें बहुत तीव्र चल रही थीं। मैं चकित हुआ। मैंने उन्हें झकझोरा। ताज्जुब! झकझोरते ही उनकी सांस सामान्य हो गई। सवेरे वे सज्जन उठे, तो मैंने पूछा— रात में क्या सपना देख रहे थे। उन्होंने कहा हां, मैं सपने में चोर का पीछा कर रहा था। वे सपने में दौड़ रहे थे। दौड़ते-दौड़ते उनकी सांसें फूल गईं और सांस

सो परम महारस चाखै/११६

की गति तेज हो गई। सपने का संबंध सांस से आकर जुड़ा।

कल एक किताब में मैंने पढ़ा कि रामकृष्ण को माहवारी यानी मासिक धर्म तक शुरू हो गया था। यह बात आश्चर्यजनक है। पर कोई भी व्यक्ति, चाहे वह पुरुष ही क्यों न हो अगर निरंतर सोचता चला जाए कि मैं स्त्री, मैं स्त्री, मैं स्त्री.....तो उसका बैठना, उठना, चलना –सभी स्त्री की तरह हो जाएगा।

आप लोगों को ध्यान होगा कि बीकानेर से एक सज्जन आते हैं, छजलानी गोत्र है उनका। पुरुष हैं पर स्त्री के रूप में रहते हैं। उनकी पत्नी का जब देहावसान होने वाला था, तो पत्नी का जीव अपने कपड़े-लत्तों में अटक गया। उसने अपने पति से कहा— इन गहनों, कपड़ों का मेरे बाद कौन उपयोग करेगा? इन्हें कौन पहनेगा? वह भूल से पूछ बैठी— क्या तुम इनको पहन लोगे? उन्होंने हाँ कह दी और पत्नी के प्राण निकल गये। उन्होंने अपना कर्तव्य समझा और हमेशा स्त्री के कपड़े धारण करने लगे। फैक्ट्री, बाजार, विवाहोत्सव –कहीं भी जाते हैं, तो स्त्री के वेश में जाते हैं। स्त्री के कपड़े पहनते-पहनते वे भूल ही चुके हैं कि वे पुरुष हैं। कायागत अंगविशेष के कारण वे पुरुष भले ही हों पर अब वह स्त्री हो चुके हैं। मन में, हृदय में, आत्मा में यह भाव पैठ चुका है कि मैं स्त्री हूँ। राधा संप्रदाय में दीक्षित होने के कारण स्वयं रामकृष्ण भी भूल गए कि वे पुरुष हैं। यह तो जब उनकी पत्नी ने ही झकझोरा तो उन्हें होश आया। फिर वे दूसरे संप्रदाय में गए। हर संप्रदाय के जो उसूल हैं, उन्हें ईमानदारी के साथ अपने भीतर जिया और पहचाना कि उसके द्वारा क्या हो सकता है। यह परमात्मा को पाने का पहला कार्य है।

एक प्रसिद्ध नारा है 'स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'। इसी तरह भगवत्ता भी हर व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है। कोई भी व्यक्ति इस अधिकार से किसी को वंचित नहीं कर सकता। व्यक्ति को जन्म-जन्मांतर से ही परमात्मा उपलब्ध है, इसलिए उसे परमेश्वर की याद भी नहीं आती। व्यक्ति से परमात्मा बिछुड़ जाए, तभी तो परमात्मा की याद आएगी। फिर तो आदमी बिना परमात्मा के ऐसे ही छटपटाएगा, जैसे बिना पानी के मछली छटपटाती है।

मछली जब तक सागर में होती है, तब तक उसे सागर का

अहसास नहीं होता। तभी तो वह अन्य मछलियों से पूछा करती है कि अपने पूर्वजों की परम्परा में सागर जैसी कोई विशाल चीज बताई गई है, वह कहां है? दूसरी कहती है कि सुन तो मैंने भी रखा है पर मैं भी तेरे जैसे दूँड रही हूँ। सागर में रहकर भी सागर की खोज! एक मछली दूसरी से पूछ रही है और दूसरी तीसरी से। सब एक-दूसरे से पूछ रही हैं। जब मछली सागर से अलग होती है, तब उसे पता चलता है कि जिसमें वह रहती थी, वही तो सागर था। बाबा कहते हैं कि मछली तो मरते समय छटपटाएंगी पर हम तो जीवित ही परमात्मा के लिए छटपटा रहे हैं।

मीरा का एक पद है— अंसुअन जल सींच-सींच, प्रेम बेलि बोई। अब तो बेलि फैल गई आनंद फल होई। एक गहरा आर्तराग है यह पीड़ा का। आंसुओं के जल से सींच-सींच कर प्रेम की बेल बोई है। इस प्रेम को दुनियादारी का छिछला प्रेम मत समझ बैठना। यह आत्मा के आंसुओं से भीगा है। आंसुओं से सींचकर यह बेल बोई गई है। चाहे लोग हंसें या मजाक उड़ाएं, जो होना था, सो हो गया। अब तो तन-मन में, रग-रग में प्रेम की बेल फैल गई है। अब तो जो होगा सो देखा जाएगा। यह स्वीकारने का भी साहस होना चाहिये कि जो होगा सो देखा जाएगा। तभी तो बाबा कहते हैं कि अपने प्रिय के बिना मैं रात-दिन तड़पता हूँ पर तुम्हें यह कौन समझाए कि तुम्हारा प्रिय तुम्हारे साथ जीता है। तुम्हारे साथ छिया-छी खेलता है, तुम्हारे आंसुओं को पीता है।

सूरज की एक किरण दूसरी से पूछती है कि क्या तुमने सूरज को देखा है? उसे यह बोध नहीं है कि जहां से मेरा जन्म हुआ है, वही तो सूरज है। किरण बढ़ती चली जाती है; क्षितिज-पार सूरज को ढूँढने के लिए कि आखिर सूरज है कहाँ? सूरज अपने पास है। सूरज तो वहीं है, जहां किरण का जन्म हुआ। किरण सूरज का सृजन है, सूरज की सन्तान है। सूरज किरण का अस्तित्व है, किरण का जनक है।

आदमी की आदत बाहर ढूँढने की है क्योंकि उसकी सारी खोज इंद्रियों के द्वारा होती है जबकि परमात्मा इन्द्रियगत नहीं, वह तो अतीन्द्रिय अनुभूति है। जहाँ इंद्रियों के भाव सुषुप्त होंगे, वहीं अतीन्द्रिय भाव जागृत होंगे। मन के संवेग, उद्वेग, इच्छाएं और विकल्प जब

शान्त होंगे, तभी अतीन्द्रिय यात्रा प्रारंभ होगी। इंद्रियों के द्वारा ढूंढना चाहो तो वही हालत होगी, जो एक मृग की रेगिस्तान में होती है।

रेगिस्तान में बालू के टीलों पर जब सूरज की किरणें टकराती हैं, तो पानी-सा आभास देने वाला प्रतिबिंब बनता है, जिसे मृगमरीचिका कहते हैं। मृग पानी के प्रतिबिंब के पीछे दौड़ता रहता है, दौड़ता रहता है पर उसे पानी नहीं मिलता। इसी तरह कस्तूरी-मृग कस्तूरी की सौरभ पाकर दौड़ता है, बार-बार दौड़ता है। उसके नथूने खुलते, फूलते हैं, तो उसे सुगंध आती है, वह फिर दौड़ता है। जीवनभर उसकी यह भागमभाग लगी रहती है। हिरण अबोध है, इसलिए वह नाभि में बसने वाली कस्तूरी की खोज जंगल में करता है पर मनुष्य जानवर नहीं है। हां! मन के चक्र में रहे, तो मनुष्य हिरण-सा ही है।

भगवान राम भी धोखा खा जाते हैं और नकली हिरण के पीछे दौड़ पड़ते हैं। वे भगवान माने जाते हैं, पर छले जाते हैं। उनको यह पता नहीं है कि हिरण असली है या नकली है। नकली हिरण के पीछे जब-जब भी कोई दौड़ेगा, तब या तो अपना सत्यानाश करवाएगा अथवा सीता को खो देगा। आदमी भी सोने-चांदी के मनमोही हिरणों के पीछे दौड़ता रहता है, रात-दिन दौड़ता रहता है और अन्ततः एक दिन उसकी जिंदगी उसी में खत्म हो जाती है।

‘सुबह होती है शाम होती है, जिंदगी यूं ही तमाम होती है।’ जिन्दगी ऐसी है जैसे पढ़ा हुआ कोई उपन्यास, जिसका सौवाँ पृष्ठ पढ़ने के बाद अगर पूछा जाए कि निन्यानवे पृष्ठ पर क्या पढ़ा, तो मालूम नहीं होता। जिन्दगी के नाम पर आदमी के पास स्मृतियों की पोटली रहती है। वर्तमान में न जीकर वह उन्हीं स्मृतियों के सहारे जीता है। जीवन कोई स्मृति नहीं है, जीवन कोई पढ़ा हुआ उपन्यास नहीं है। वह तो यथार्थ है। जीवन शून्य में से आया है। जीवन का सृजन किसी शून्य से साकार हुआ है। वह शून्य क्या है, मनुष्य के लिए अज्ञात है। उसका ज्ञान बाहर नहीं भीतर है। बाहर झांकी है, भीतर सच्चाई है। बाहर को उपलब्ध करके भी व्यक्ति कितना बाहर को उपलब्ध कर पाया? धन-संपदा इकट्ठी करने, भोग-विलास और संतानोत्पत्ति के अलावा क्या किया? जिन्दगी का सार, श्रम कितना हुआ?

जिन किताबों पर दुनिया विश्वास करती है, वे कहती हैं कि

मनुष्य जन्म मिलना बड़े पुण्य की बात है। चौरासी लाख जीव-योनियों में यह मनुष्य जन्म का फूल सौभाग्य से खिलता है पर क्या हाय-तौबा ही सौभाग्य है? इतनी उठापटक ही पुण्योदय है? मैं तो अपने से जुड़े हुए हर व्यक्ति से सदा कहा करता हूँ कि भगवान की ओर से तुम्हें दाल-रोटी खाने को मिल रही है, रहने के लिए एक छोटा-सा मकान ही क्यों न हो, मिल रहा है, पहनने के लिए दो जोड़ी कपड़े मिल रहे हैं, तो तुम्हें बहुत मिल रहा है, पर्याप्त है। कृतज्ञता प्रकट करो भगवान के प्रति कि हे परमात्मा ! तुमने कभी हमें भूखा नहीं रखा। हमारी तृप्ति की है।

कल की मैं क्यों चिन्ता करूँ। कम से कम मैं तो चिन्ता नहीं करता। मेरे पास चाहे कितने ही काम आ जाएं, निपटते चले जाते हैं अल्प साधनों के बावजूद। जब से समझ पाई, जब से धरती पर अवतरित हुआ, मां की कोख से जब बाहर आया तो उससे पहले ही परमात्मा ने मां के आंचल में दूध भर दिया। बेटा बाद में जन्मा, बेटे के जन्म के साथ ही मां का जन्म हो गया। दूध भरा मातृत्व उमड़ आया। जब बेटा पैदा होता है तो केवल बेटा ही पैदा नहीं होता; उसके साथ मातृत्व भी जन्म लेता है; तब नारी में एक मां पैदा होती है। परमात्मा की ओर से व्यवस्था है कि कोई भी बच्चा भूखा नहीं मरता है। जन्म के साथ ही उसके दूध की व्यवस्था है। प्रकृति पूरा-पूरा प्रबन्ध कर रही है। उसकी प्रबन्ध समिति बड़ी तगड़ी है। अब सोचो कि जो हमारी जन्म से व्यवस्था कर रहा है, वह जिंदगी भर हमारी व्यवस्था नहीं करेगा?

अभी एक साधिका यहां आई। संयोग से, पीछे उसके घर में चोरी हो गई। जेवरात आदि चले गये। जब मुझे जानकारी मिली तो मैंने अपनी ओर से कुछ कहना चाहा, खेद भी प्रकट करना चाहा। मैंने अभी सिर्फ इतना ही कहा, खेद है आपके घर.....वह तत्काल बोल पड़ी— प्रभुश्री! आप यह क्या कह रहे हैं, मैं तो उस परिग्रह से मुक्त ही थी। गहने कभी पहनती तो हूँ नहीं, यूँ ही पड़े थे। अच्छा हुआ, जिसके थे वह ले गया। व्यर्थ के बोझ से मुक्ति मिल गई। मुझे उसकी अनासक्ति प्रफुल्लित कर गई। मैंने तब सिर्फ इतना ही कहा— तुम धन्य हो। सचमुच, अगर वह घटना किसी और के साथ घटित होती, तो वह गाँव लौट जाती पर वह साधिका बड़े धैर्य से सेवा में लगी रही।

सो परम महारस चाखै/१२३

मैंने उसकी आत्मा को धन्यवाद दिया कि उसने अपने आपको परमात्मा के भरोसे सौंप दिया है। नियति में जो लिखा है, वह स्वीकार। जो सारी धरती का संचालन करता है, उसके प्रति उसने समर्पित कर दिया है स्वयं को। प्रार्थना करनी है तो उसकी करो, जिसने सबका निर्माण किया है। जब प्रकृति हमारी व्यवस्था करने के लिए कटिबद्ध है, तब हम क्यों इतनी हाय-तौबा, गलाघोंट संघर्ष करने में लगे हैं? जो होना होगा, सो होगा ही। फल पकने पर पेड़ से गिरेंगे ही, तोड़ो तब भी, न तोड़ो तब भी, फिर पेड़ पर चढ़कर तोड़ने और खुद के गिर जाने की रिस्क क्यों उठाते हो? हाँ! नाव विपरीत जाए और तुम पतवार चलाओ, बात ठीक है पर जब हवाएँ ही अनुकूल हों, हवा खुद लक्ष्य की ओर नौका ले जा रही है, तब पतवारों की सरपच्ची दूर फेंको। वक्त पर सब कुछ पक जाता है। अच्छा या बुरा, वक्त से पहले फलित होगा ही नहीं। और जो फलित होना होगा, सो तो होगा ही। 'होवे सो होई'। अब तो कह दो कि जो होना होगा सो होगा, हमने तो उस पर छोड़ दी है अपनी नौकाएँ, अपनी पतवारें।

बाबा कहते हैं—

पिया बिन निस दिन झूरूं खरी री।
लहुड़ी बड़ी की कानि मिटाई,
द्वारे ते आंखें कवहूं न टरी री।।

यानी मैं उस परमात्मा के प्रेम में दिन-रात उसी तरह झूरती रहती हूँ, जिस तरह एक प्रेमिका प्रेमी के विरह में तड़पती है। मैं खड़ी हूँ अपने द्वार पर कि कब प्रियतम आएँ। 'नयन पथगामी भवतु मे'—मेरे नैन-पंथ से वे कब मेरे अन्तर्-मन में आएँ। बाबा की आत्मा कहती है कि छोटे-बड़े की लाज छोड़कर, छोटे-बड़े की मर्यादा भूलकर मैं तो पिया के इन्तजार में खड़ी हूँ। मेरे भीतर की आंखें बाहर के इन दरवाजों को हर पल टटोलती रहती हैं कि कब पिया पहुंचें। मेरी आँखें एक पल के लिए भी नहीं झपकी हैं। उस नैन-पंथ से परमप्रिय परमात्मा को बार-बार आने का निमंत्रण दिया जा रहा है।

पट भूषण तन भौकन उटै,

पिया बिन झूरूं/१२४

भावै न चोकी जराव जरी री।
सिव कमला आली सुख न उपावत,
कौन गिनत नारी उमरी री।।

वस्त्रों और आभूषणों का भार तो अब भभका मारने लगा है।
ऐसा लगता है जैसे कोई कुत्ता भौंकता है। मैंने पिया के इन्तजार में जो
वस्त्र-आभूषणादि पहन रखे हैं, अब तो इनका अर्थ नहीं रह गया है।
पिया हो तो सजावट की जाए। पिया न हो तो किसके लिए शृंगार?

आजकल तो सारे शृंगार दुनिया को आकर्षित करने के लिए व
सुन्दरतम दिखने की चाह में किये जा रहे हैं। हमें 'लिपिस्टिक' की
परतों में छिपा भीतर का सौन्दर्य दिखाई नहीं देता। आरोपित सौंदर्य
सबको अच्छा लगता है, प्राकृतिक सौंदर्य नहीं।

बाबा कहते हैं— जरी से बनी यह चौकी अब मुझे सुहाती नहीं
है। स्वर्ण या रजत की किसी भी चौकी में मुझे राग या रस नहीं है।
शिव-कमला यानी मुक्ति-ललना को पाने की मुझे कोई चाह नहीं है।
वह भी मुझे सुखदायी नहीं लगती। जब मैं शिव की कमला, मुक्ति-
रमणी को पाना नहीं चाहता, तो फिर इस लोक की नारियों की गिनती
तो होगी ही क्या!

कबीर कहा करते थे—

राम मेरा पीऊ,
मैं राम की बहुरिया।

राम मेरे प्रिय हैं, पति हैं, मैं राम की बहुरानी हूँ। स्वयं को नारी
और परमात्मा को पुरुष मानना —यह परम प्रेम है। पुरुष अगर खुद में
नारी-भाव ले आए, पत्नी-भाव ले आए, तो पुरुष के मन में स्त्रियों के
प्रति जो आकर्षण रहता है, वह निकल ही जाता है। जब खुद ही राम
की प्यारी बन गये, तो और किसी को अपनी प्यारी बनाने की ललक
जगेगी ही नहीं। भक्ति मार्ग के रहस्यों में यह भी रहस्य है।

सास, विसास, उसास न राखै, नणद निगोरी भौरे लरी री।
और तबीब न तपती बुझावै, आनंदघन पीयूष झरी री।

सो परम महारस चाखै/१२५

अर्थात् मेरी सास एक पल के लिए भी मुझ पर भरोसा नहीं करती और ननद तो सवेरे से ही लड़ने लगती है, बिना यह सोचे कि वह भी किसी घर की बहु है।

मीरा की भी यही हालत थी। सास मीरा पर विश्वास नहीं करती और ससुराल वाले उसे अपनी जाति का कलंक मानते थे जबकि मीरा को तो नाचती हुई भीड़ भी भक्तों की मंडली नजर आती। उसे तो बाजार भी कृष्ण का मंदिर, कृष्ण का वृंदावन दिखाई देता। मीरा को चाहे कोई कुलटा कहे, चाहे उसे विषपूरित प्याला भेजे, चाहे कोई कुछ भी कहे, वह तो बैखौफ घुंघरू बांध नाचा करती—

पग घुंघरू बांध मीरा नाची रे।
मैं तो मेरे नारायण की आपही हो गई दासी रे।
लोग कहें मीरा भई बावरी
न्यात कहे कुलनाशी रे।
विष का प्याला राणाजी भेजिया,
पीवत मीरा हांसी रे।
मीरा के प्रभु गिरघर नागर
सहज मिले अविनाशी रे।

चाहे कोई मीरा को कुलटा कहे या विष का प्याला पिलाए, मीरा नाचेगी। पांच में घुंघरू बांधकर नाचेगी। अहोनृत्य होगा। आंखों से झरने बहेंगे। दीप जलेगा, करताल बजेगा। इकतारा झंकृत होगा। कंठ गुनगुनाएगा। हृदय हुलसेगा। हृदय के मंदिर में आरतियां होंगी। प्रेम का अमृत झरेगा। 'अपने पिया की मैं तो बनी रे जोगनिया'। अपने पिया की मैं ऐसी जोगनिया बन गई हूँ, जो जन्म-जन्मांतर अपने पिया की ही रहेगी। मीरा, जो पांच हजार साल पहले ललिता थी, वही जन्म-जन्मांतर की घटनाओं के बाद मीरा बनी और हजारों साल बाद अपने पिया को उपलब्ध कर चुकी। वह अपने प्रियतम में वैसे ही समा गई, जैसे शक्कर पानी में विलीन हो जाती है, जैसे बूंद सागर में खो जाती है? बाबा कहते हैं कि कोई भी तरीका नहीं जो मुझे तृप्ति दे सके। यह तो जो भीतर अमृत झर रहा है, वही मुझे तृप्ति और आनंद दे सकता है।

पिया बिन झूरूं/१२६

रस गगन गुफा में अजर झरे,
बिन बाजा झंकार करे।
जब ध्यान धरें, तो समझ परे।

गगन की गुफा में, अन्तस् के आकाश में रस भरी बदरिया बरस रही है। आसमान में काले बादल नहीं हैं, लेकिन सहस्रार के अन्तस् के आकाश में रस के झरने झर रहे हैं। यह तो बगैर बादल की बारिश है। बगैर गर्जना की बिजली है, बगैर बाजों की झंकार है। पाँव रुके हैं, फिर भी पदचाप है, पावों की आहट है। करताल नहीं है, फिर भी अनहद नाद है—रस गगन गुफा में अजर झरे। अन्तस् के आकाश में, अन्तर्-हृदय की महागुफा में, प्रेम का, आनन्द का, आह्लाद का रस झर रहा है। लेकिन यह सब तभी होता है, इसका अनुभव और इसकी समझ भी तभी आती है, जब ध्यान धरो, गहरे पानी पैठो। अपना रूप देखो।

‘पिया बिन झूरूं खरी’, निश्चय ही रस की कोई फुहार हमें भिगो रही है। हमारे मन की आंखों में और ज्यादा खुमारी चढ़ रही है कि पिया के बिना सारा जग सूना लगता है। पिया है, तो सब है। बिना पिया सब सूना। तुम्हें तुम्हारा पिया मिल जाये, तो पाना न पाने जैसा होगा, लेकिन यह तो वह पिया है, जो न मिलने पर भी इतना रस और सुख देता है, तो मिलने पर तो क्या कहना! अन्तरात्मा गहरे सुख से नाच उठती है। तब कोई यह नहीं देखता कि वह कहाँ खड़ा है। तब जंगल में चैतन्य नाच उठता है। चिड़ियाएँ उसके लिए बांसुरिया बजाती हैं। पात-पात बातें होने लगती हैं। चारों ओर से रोशनी की, आनन्द की, परम-धन्यता की बरसात होने लगती है। तब राजरानी मीरा भूल ही जाती है कि वह महलों की महारानी है। उसकी चूड़ियां तो करताल बन जाते हैं और पायल घुंघरू। बाबा आनन्दधन हों या घनानन्द, मीरा हो या कबीर, नानक हो या जीसस—मिलनी से सब अभिभूत होंगे ही। यहां तो खोना है, खो-खोकर खोजना है, पाना है। बाबा को सुनना महज एक प्रयोग भर है, प्रयोग के सूत्र भर हैं। अपनी अन्तर्-दृष्टि को भीतर की ओर मोड़ो, भीतर गये बिना भीतर का भगवान नहीं मिलता।

हमारे तन-मन में, रग-रग में, सब में उसका स्पंदन है, उसकी धड़कन है। अन्तस् के आकाश में भीतर बैठी मौन सत्ता की ओर

सो परम महारस चाखै/१२७

अपनी अन्तर्-दृष्टि उठाओ, तो ही कुछ हो सकता है, रस झर सकता है,
अपना अपने में आ सकता है। अन्यथा.....!

नमस्कार!

